मीडियम समयसार

भाग - 2

(गाथा 39 से 86 तक की टीका)

– डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया

मीडियम समयसार

भाग–2

(गाथा 39 से 86 तक की टीका)

लेखिका

विद्वत्रत्न डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया

बी.ए.ऑनर्स, एम.ए., पी.एच.डी. (स्वर्णपदक प्राप्त)

मो. 09321295265 / Email: dpptmumbai@gmail.com

मुंबई (महाराष्ट्र)

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए–4, बापूनगर, जयपुर – 302015

फोन : (0141) 2705581, 2707458

E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

मीडियम समयसार भाग–2 : विद्वत्रत्न डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया

- **प्रथम संस्करण** : 2 हजार
(27 नवम्बर, 2022)

- **E-book प्रथम संस्करण**
(27 नवम्बर, 2022)

मूल्य : **पन्द्रह रुपये**

टाइपसैटिंग :
त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स,
ए–4, बापूनगर, जयपुर

मुद्रक :
देशना कम्प्यूटर
60 पूनम विहार
जगतपुरा, जयपुर

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक 'मीडियम समयसार भाग-2' की लेखिका डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया बचपन से ही प्रतिभाशाली रही हैं। उन्होंने पूत के लक्षण पालने में ही नज़र आ जाते हैं - कहावत को चरितार्थ किया है। विद्वत्ता की दृष्टि से वे पिताश्री डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के पदचिन्हों पर ही चल रही हैं। उनके द्वारा अभी तक छोटी-बड़ी 56 पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं; जो आपकी बहुमुखी प्रतिभा का प्रमाण है। जैनदर्शन के सभी महत्वपूर्ण विषयों पर आपकी लेखनी चली है।

साथ-ही-साथ आपने जैन सिद्धान्तों पर आधारित अनेक 'गेम्स' भी बनाए हैं, जिनके खेलने के नियम भी जैन सिद्धान्तों का ज्ञान कराते हैं। इन 'गेम्स' की विशेषता यह है कि इनको खेलने से बच्चों को सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ-साथ अहिंसात्मक आचरण की प्रवृत्ति भी सहज विकसित हो जाती है। इनमें जीत हिंसात्मक कार्य मार-पीट से नहीं, ज्ञान-ध्यान से हासिल की जाती है। बच्चों को ज्ञान-ध्यान करने की प्रेरणा मिलती है।

आपने 'आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार एक समालोचनात्मक अध्ययन' विषय पर शोध कर राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर से पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की है। आपने अपने शोध ग्रन्थ में शोध समीकरणों (rules and regulations) को ध्यान में रखते हुए आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों और टीकाकारों का सर्वांगीण (सम्पूर्ण) विवेचन सरल-सुबोध भाषा में प्रस्तुत किया है, जो कि विद्वत्जन और बुद्धिजीवी वर्ग के साथ-साथ जनसामान्य को भी अपनी ओर आकृष्ट (attract) करता है। यही कारण है कि 'परमागम ऑनर्स' के पंचवर्षीय पाठ्यक्रम में यह पुस्तक शामिल की गई है।

आपके द्वारा लिखी गई बाल पुस्तकें भी अद्यावधि (अब तक) जैन समाज में प्रचलित अन्य पाठ्यपुस्तकों से भिन्न शैली, रंगीन चित्रमय

प्रस्तुति एवं मूल तत्वज्ञान के समावेश के कारण अपनी विशिष्ट पहचान रखती हैं।

आपकी सभी कृतियाँ अध्यात्मरस से सराबोर और भेदज्ञान से ओतप्रोत हैं। आप विभिन्न आयुवर्ग को ध्यान में रखकर भिन्न-भिन्न शैली में अध्यात्म को सरल भाषा में जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास कर रही हैं।

गूढ़ से गूढ़ विषय को सरलतम रूप में प्रस्तुत करने की कला में आप माहिर हैं। इसी सरलता की छाप आपकी प्रस्तुत टीका 'मीडियम समयसार भाग-2' में भी दिखाई पड़ती है। इसे पढ़कर पाठक समयसार की दुरूहता (कठिनता) को भूल जाएंगे। समयसार में प्रवेश पाने के इच्छुक पाठकों के लिए यह अत्यंत उपयोगी कृति है। सभी पाठक इससे लाभान्वित हों - इसी भावना से प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन किया जा रहा है। शीघ्र प्रकाशन व्यवस्था के लिए डॉ. अखिल बंसलजी का बहुत आभार है।

-परमात्मप्रकाश भारिल्ल

कार्यकारी महामंत्री

हाल ही में अनेक छात्रों के अनुरोध के कारण और जिनवाणी की प्रभावना हेतु डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया अनेक व्यावहारिक विषयों को आधार बनाकर अत्यंत सरल और सटीक भाषा में जिनवाणी का मर्म समझाने हेतु अपने सोशल मीडिया अकाउंट का अवलंबन लिया है।

उनके द्वारा लिखे गए साहित्य का लाभ लेने हेतु नीचे दिए गए उनके सोशल मीडिया एकाउंट्स को फॉलो करें :

Facebook : https://www.facebook.com/d.shuddhatmprabha.taraiya
Instagram : https://www.instagram.com/shuddhatmprabha
Twitter : https://twitter.com/DrTaraiya
LinkedIn : https://www.linkedin.com/in/dr-shuddhatmprabha-taraiya-49b2b3212

× × × × ×

परमागम ऑनर्स के अधिक जानकारी हेतु नीचे दिए गए वेबसाइट या फ़ोन नंबर पर contact करें :

www.practicaljainism.com श्री अविनाश टड़ैया : 9221225264

अपनी बात

प्रस्तुत पुस्तक 'मीडियम समयसार : भाग–2' आचार्य कुन्दकुन्द रचित समयपाहुड़ की मूल गाथाओं की सरल, संक्षिप्त टीका है। जिसमें मूल गाथाओं को पढ़ने में सुविधा की दृष्टि से इसमें पदविच्छेद दिये गये हैं और पदों का अर्थ समझने की दृष्टि से शब्दार्थ दिये गये हैं। व्याख्या में मूल गाथाओं की पूर्वापर (पहले व बाद की) अपेक्षा यथास्थान दी गई है।

इसमें विषयानुसार गाथाओं का विभाजन किया गया है, जिससे पाठक विषयवस्तु को आसानी से याद रख सकते हैं। विषयवस्तु के अनुसार ही इस टीका के भागों का विभाजन किया गया है। जैसे अतिबुद्धिमान श्रावक आरम्भ की 18 गाथाओं को पढ़कर आत्मानुभूति कर सकते हैं; अतः 'मिनी समयसार' में 18 गाथायें ही दी गई हैं।

मध्यम बुद्धिमान श्रावक के अनेक स्तर हो सकते हैं, जिसमें कुछ श्रावक 38 गाथाओं को आत्मसात कर मुक्तिपथ पर बढ़ सकते हैं; अतः 'मीडियम समयसार : भाग–1' में इतनी ही गाथायें दी गईं हैं।

इसके पश्चात् 39–86 तक की गाथाओं में आचार्यदेव वह सब कुछ कह चुके हैं, जो उन्हें पूर्ण समयसार में बताना है। जैसे इन गाथाओं में जीव–अजीव सम्बन्धी तो संपूर्ण जानकारी दी गई है और आस्रव, बंध, मोक्ष, कर्ता–कर्म, भोक्ता–भोग्य आदि सम्बन्धी सामान्य जानकारी दी गई है। इन गाथाओं में संपूर्ण बंधन से मुक्ति का उपाय व सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव की प्रवृत्ति–सभी कुछ समाहित हो गया है; अतः भाग–2 को मैंने यहीं विराम दिया है।

पाठक समयसार के दुरूह विषय को अपनी भाषा में अपने आस–पास के उदाहरणों से आसानी से समझ सकें – ऐसा मेरा प्रयास रहा है।

इस भाग में अजीव को जीव समझने संबंधी भूलों का विस्तार से वर्णन किया गया है। इन्हें समझकर जीव भेदविज्ञानपूर्वक आत्मानुभूति कर सकते हैं। सभी जीव–अजीव संबंधी अज्ञान को दूर कर भेदज्ञान की ओर अपना कदम बढ़ाने में समर्थ हों – ऐसी भावना है। **– डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया**

विषय–सूची

1.	विषयवस्तु	1
2.	गाथा 39	11
3.	गाथा 40	14
4.	गाथा 41	15
5.	गाथा 42	17
6.	गाथा 43	19
7.	गाथा 44	23
8.	गाथा 45	25
9.	गाथा 46	27
10.	गाथा 47	29
11.	गाथा 48	31
12.	गाथा 49	33
13.	गाथा 50	36
14.	गाथा 51	41
15.	गाथा 52	43
16.	गाथा 53	45
17.	गाथा 54	50
18.	गाथा 55	53
19.	गाथा 56	55
20.	गाथा 57	56
21.	गाथा 58	58
22.	गाथा 59	59
23.	गाथा 60	60
24.	गाथा 61	61
25.	गाथा 62	62
26.	गाथा 63	63
27.	गाथा 64	64
28.	गाथा 65	66
29.	गाथा 66	67
30.	गाथा 67	69
31.	गाथा 68	70
32.	गाथा 69	72
33.	गाथा 70	74
34.	गाथा 71	76
35.	गाथा 72	78
36.	गाथा 73	81
37.	गाथा 74	84
38.	गाथा 75	89
39.	तात्पर्यवृत्ति गाथा 6	94
40.	गाथा 76	96
41.	गाथा 77	98
42.	गाथा 78	100
43.	गाथा 79	103
44.	गाथा 80	105
45.	गाथा 81	107
46.	गाथा 82	108
47.	गाथा 83	110
48.	गाथा 84	111
49.	गाथा 85	112
50.	गाथा 86	114
51.	तात्पर्यवृत्ति गाथा 7	116

विषयवस्तु

(हरिगीत)

हे भव्यजन ! क्या लाभ है इस व्यर्थ के बकवाद से।
अब तो रुको निज को लखो अध्यात्म के अभ्यास से।।
यदि अनवरत छहमास हो निज आतमा की साधना।
तो आतमा की प्राप्ति हो सन्देह इसमें रंच ना।।34।।[1]

अभी तक गाथा 1 से 38 तक आपने पढ़ा–

समयसार की आरंभ की 13गाथायें इस ग्रंथ की नींव है, बीज हैं। इन गाथाओं की नींव पर पूरे समयसार का महल खड़ा है। समयसार की गाथाओं के वटवृक्ष की ये गाथायें मूल हैं।

इस ग्रंथ का मूल्य उद्देश्य उस शुद्धात्मा का स्वरूप बताना है जिसको जानकर, पहचानकर उसमें जमने–रमने से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। उस शुद्धात्मा का अत्यंत संक्षेप में वर्णन इन गाथाओं में कर दिया गया है। अत: आचार्य कुन्दकुन्द अपने ग्रंथ के आरंभ में सर्वप्रथम शुद्धात्मस्वरूप हो गए सिद्धों को नमस्कार कर शुद्धात्मा का वास्तविक स्वरूप बताने की प्रतिज्ञा करते हैं।

इसके पश्चात् वे द्रव्य से, गुण से, पर्याय से शुद्ध–आत्मा का स्वरूप बताते हैं। शुद्ध–आत्मा का स्वरूप बताते समय वे निश्चय और व्यवहार शैली का प्रयोग करते हैं। शुद्धात्मा का स्वरूप प्रतिपादन करते हुए आचार्य देव कहते हैं कि– आत्मा तो एक मात्र ज्ञान स्वरूप ही है, जाननेवाले भावरूप ही है। ज्ञायकभाव रूप ही है। ज्ञान न तो विकारी भावरूप है, न ही अविकारी निर्मल भावरूप है। वह न प्रमत्त पर्यायों रूप है, न ही अप्रमत्त पर्यायों रूप। इन सभी पर्यायों रहित होने

1. समयसार कलश

से उस जानने वाले भाव ज्ञान को शुद्ध कहा जाता है; अतः शुद्ध ज्ञान ही शुद्ध आत्मा है।

इस शुद्ध ज्ञान, में शुद्धात्मा में दर्शन, ज्ञान, चरित्र के भेद भी नहीं हैं। ज्ञान तो बस ज्ञान ही है। आत्मा तो बस ज्ञान ही है। जो जीव इस शुद्ध ज्ञान की अनुभूति करते हैं, उसी में जमते–रमते है; वे ही 'स्व समय' कहलाते हैं और जो पर पदार्थों में पुद्गलों के विचारों में मग्न रहते हैं, वे 'पर समय' कहलाते हैं। इस ज्ञान गुण में अनंत गुण समाहित हो जाते हैं। इसलिए निश्चयनय से आत्मा में दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि का गुणभेद भी नहीं है। वह तो शुद्ध ज्ञायक भावरूप ही है।

जो यह बात समझकर अपने में लीन हो जाते हैं, तन्मय हो जाते हैं, वे सम्यग्दृष्टि ज्ञानी हो जाते हैं।

अब आगे पढ़ें गाथा–39 से 86 तक –

आचार्य कुन्दकुन्द कृत समयसार की आत्मख्याति टीका में उपलब्ध 1 से 18 गाथाओं की व्याख्या 'मिनी समयसार' और 19 से 38 तक की गाथाओं की व्याख्या 'मीडियम समयसार : भाग–1' में कर चुके हैं। **जिनमें जीव को अजीव मानने रूप जीव तत्त्व संबंधी भूल** को बताया गया था।

अब उसके आगे 39 से 86 तक की गाथाओं की व्याख्या 'मीडियम समयसार : भाग–2' में की जा रही है। उक्त 48 गाथाओं में अजीव को जीव मानने रूप अजीव तत्त्व संबंधी भूल को बताते हुए जीव का सही स्वरूप भी प्रस्तुत किया गया है।

गाथा 39 से 68 में उन अज्ञानियों की चर्चा की गयी है **जो अजीव को जीव मानने रूप अजीव तत्व संबंधी भूल** करते हैं। उनमें से कुछ लोग कर्म को जीव मानते हैं, तो कोई कर्मफल को। कुछ राग–द्वेष को ही जीव मानते हैं और कुछ राग–द्वेष के उतार–चढ़ाव को।

कोई राग द्वेष के कारण शुभ–अशुभ भावों को जीव मानते हैं; तो कोई शुभ–अशुभ के फल सुख–दुःखों में आत्मबुद्धि करते रहते हैं।

इसप्रकार अजीव को जीव समझने संबंधी मुख्य मान्यताओं का निराकरण सहित वर्णन विस्तार से आगामी 30 गाथाओं में किया जा रहा है।

जिनमें आरंभ की 39 से 43 तक की पाँच गाथाओं में परद्रव्य को आत्मा मानने वालों की मुख्यता से कथन है।

इन पाँच गाथाओं में अजीव को जीव मानने रूप मुख्य 8 मान्यताओं को बताते हुए कहा गया है कि आत्मा को नहीं जानने वाले, 'पर' को ही आत्मा मानने वाले कुछ अज्ञानी जन अध्यवसान को, कर्म को, नोकर्म को, कर्म के उदय को, कर्म के अनुभाग को, कर्म संयोग को, जीव व कर्म के मिले हुए रूप को और तीव्र–मंद अनुभागगत अध्यवसानों को जीव मानते हैं। जो ऐसा मानते हैं, वे अज्ञानी मिथ्यादृष्टि हैं।

44वीं गाथा में उक्त मान्यताओं का प्रश्नात्मक लहजे में निराकरण करते हुए कहा गया है कि– अध्यवसानादि सभी भाव पुद्गल परिणाम से उत्पन्न होने के कारण पौद्गलिक हैं, अतः उन्हें जीव कैसे कहा जा सकता है? अतः अध्यवसानादि को जीव मानना उचित नहीं है।

45वीं गाथा में द्रव्यकर्म की मुख्यता से कथन करते हुए कहा गया है कि आठों प्रकार के कर्म पुद्गलमय हैं और उनका फल भी दु:ख ही है।

46 से 48 तक तीन गाथाओं में अध्यवसानादि भावों को जीव कहने की अपेक्षा बताते हुए कहा गया है कि यह अध्यवसानादि सभी भाव व्यवहार नय से ही जीव कहे जाते हैं, निश्चय से नहीं।

49वीं गाथा में निश्चयनय से जीव का स्वरूप बताते हुए कहा है

कि जीव तो अरस, अरूप, अगन्ध, अव्यक्त, अशब्द, अनिर्दिष्ट संस्थान और चेतना गुणवाला ही है।

कुछ बुद्धिमान जीवों को तो इतने से ही आत्मा व शरीर का भेदविज्ञान हो जाता है और वे अपना स्वरूप समझ उसमें लीन हो जाते हैं; पर जिनको अनुभूति नहीं होती है, उन जीवों को 50 से 55 तक की गाथाओं में वर्ण से लेकर गुणस्थान पर्यन्त सभी भावों को आगम, युक्ति और अनुभव से पौद्गलिक सिद्ध किया गया है।

इन 29 प्रकार के भावों में कुछ भाव तो स्पष्टरूप से पुद्गल हैं ही; शेष भाव वे भाव हैं, जो पुद्गल कर्म के उदय से आत्मा में उत्पन्न होते हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सभी 'पर' भाव व विकारी भाव पौद्गलिक हैं, जीव के नहीं हैं।

इसके पश्चात् 56वीं गाथा में आगम में उन्हें जीव कहने की अपेक्षा बताते हुए कहा गया है कि उक्त सभी भाव व्यवहारनय से ही जीव के कहे गये हैं, निश्चयनय से नहीं।

57वीं गाथा में अपने इस कथन को उदाहरण द्वारा समझाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि इन भावों का जीव के साथ दूध–पानी की तरह एकक्षेत्रावगाह–संबंध है, अतः इसे व्यवहार से जीव कहा जाता है; किंतु जीव और वर्णादि भावों का अग्नि और उष्णता के सामान तादात्म्य संबंध नहीं है। अतः उन्हें निश्चय से जीव का नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जीव का तादात्म्य संबंध तो ज्ञान–दर्शन–रूप उपयोग गुण से है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि इस गाथा में आत्मा को सब द्रव्यों और सब भावों से भिन्न बताया गया है।

58वीं व 59वीं दो गाथाओं में मार्ग लुटने का उदाहरण देकर व्यवहार कथन की उपयोगिता बताते हुए कहा गया है कि जिसप्रकार मार्ग पर चलते पथिकों को लुटता देखकर कहा जाता है कि मार्ग लुटता है, उसी प्रकार कर्मों–नोकर्मों का वर्ण जीव में (एकक्षेत्रावगाह

में) देखकर वर्ण को व्यवहार से जीव का कहा जाता है।

इस गाथा में मात्र वर्ण को जीव कहने की अपेक्षा बताई गयी है।

इसके पश्चात् 59 से लेकर 68वीं गाथा तक की 10 गाथाओं में 29 प्रकार के सभी भावों का विशेष नामोल्लेख करते हुए व्यवहारनय से ही पुद्‌गल का कहा है, निश्चय से नहीं। जैसे 59वीं व 60वीं दो गाथाओं में क्रमश: द्रव्यकर्म, नोकर्म, वर्ण, रस, गंध, संस्थान आदि स्पष्ट पुद्‌गलों को शामिल किया है।

61 से 64 तक की 4 गाथाओं में कहा है कि वर्णादि भाव को मात्र संसार अवस्था में भी जीव मानने पर जीव-अजीव में कुछ अंतर नहीं रहेगा; क्योंकि वर्णादि तो पुद्‌गल के गुण हैं, जीव के नहीं। निर्वाण (मोक्ष) की प्राप्ति भी पुद्‌गल को ही होगी, जीव को नहीं। अतः जीव का वर्णादि भावों के साथ मोक्ष और संसारी दोनों अवस्थाओं में तादात्म्य संबंध नहीं है। वर्णादि सभी भाव निश्चय से जीव से भिन्न ही हैं। पुद्‌गलमय होने से पुद्‌गल ही हैं।

इसके पश्चात् 65 से 68वीं गाथा तक जीवस्थान, जीवसमास और गुणस्थान को भी पौद्‌गलिक (अचेतन) सिद्ध किया गया है।

यहाँ जीवस्थान को वर्णादि के प्रतिनिधि और गुणस्थानों को रागादि के प्रतिनिधि के रूप में ग्रहण कर 29 प्रकार के भावों को समाहित कर लिया गया है। इसप्रकार इन 4 गाथाओं में अजीव सम्बन्धी भूलों को संक्षेप में समेट लिया गया है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि 19 से 38 तक की गाथाओं में जीव का स्वरूप 'ऐसा है - ऐसा है' इसप्रकार अस्ति (positive) से बताया था और 39 से 68 तक की 30 गाथाओं में अजीव की मुख्यता से कथन किया जा रहा है; अतः इसमें कहा गया है कि 'वे अजीव के होने से जीव के नहीं हैं' - इसप्रकार निषेध (negative)

से बात की जा रही है। इन गाथाओं में उन अजीव भावों को पौद्गलिक सिद्ध किया गया है; जो जीव में नहीं हैं, पर जिन्हें जीव कहा जाता है, समझा जाता है।

इन्हें पौद्गलिक सिद्ध करते समय सर्वत्र आगम के प्रमाण के साथ-साथ तर्क व उदाहरण द्वारा भी सिद्ध किया गया है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि- 39 से 49 तक की 11 गाथा में सामान्य कथन करते हुए 29 प्रकार के भावों को व्यवहारनय से ही जीव के कहा गया था, निश्चयनय से नहीं। इसी की सिद्धि के लिए 50 से 68 तक की 19 गाथाओं में विशेष कथन किया गया है।

68वीं गाथा में जिन मोहादि भावों की चर्चा की गई है, उन मोहादि भावों का आत्मा में उत्पन्न होना ही भावास्रव कहलाता है और आत्मा का इन विभाव भावों में रुकना भावबंध है। अतः इसके पश्चात् 69वीं व 70वीं की दो गाथाओं में आस्रव, बंध के कारणों पर प्रकाश डाला गया है और 71-72वीं दो गाथाओं में उनकी दु:ख कारणता बताकर उनसे निवृत्ति का उपाय भी बता दिया गया है।

73वीं गाथा में ज्ञानी जीव द्वारा शुद्धात्मा के स्वरूप के चिंतन की प्रक्रिया बताकर उसमें ही सदा लीन रहकर समस्त आस्रवों को नष्ट करने की भावना भाई गई है।

इस गाथा में आत्मा के उन्हीं विशेषणों को दिया गया है, जिनकी चर्चा वह अभी तक की गाथाओं में कर आए हैं। जैसे- ज्ञानी विचार करता है कि मैं अन्य सभी परद्रव्यों और मोह-राग-द्वेषादि से रहित होने के कारण निर्मम हूँ। मैं गुण-भेदों से भिन्न, अखंड एक हूँ। मैं विकारी-अविकारी समस्त पर्यायों से रहित शुद्ध हूँ। विशेष क्या ! मैं तो ज्ञान-दर्शन का अखंड पिंड हूँ। मैं अपने इस शुद्ध स्वभाव में ही जमे-रमे रहने की भावना भाता हूँ, ताकि मैं अपने सभी आस्रव भावों का नाश कर सकूँ।

इसके पश्चात् 74 से 80 तक की 7 गाथाओं में आचार्यदेव भावकर्म, द्रव्यकर्म और नो-कर्म के संबंध में होने वाली ज्ञानी जीव की प्रवृत्ति का विशेष वर्णन करते हैं।

74वीं गाथा में आस्रवों के संबंध में विशेष कथन करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि आस्रव भाव अध्रुव हैं, अशरण हैं, अनित्य हैं; दुःखरूप हैं और उनका फल भी दुःखमय ही है- ऐसा जानकर ज्ञानी जीव इनसे निवृत्त होते हैं।

75वीं गाथा में कहा गया है कि जो जीव भावकर्म, द्रव्यकर्म और नो-कर्म के परिणाम को करते नहीं हैं, मात्र जानते हैं; वे ही सद्ज्ञान, सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करते हैं।

इसप्रकार इस गाथा में ज्ञानी के ज्ञान स्वभाव का सामान्य कथन किया गया है।

इसी ज्ञाता स्वभाव का विशेष कथन करते हुए 76वीं गाथा में आचार्य देव कहते हैं कि - ज्ञानी जीव पुद्गल कर्म को जानता हुआ भी पर द्रव्य की पर्याय रूप परिणमित नहीं होता, ग्रहण नहीं करता और उस रूप उत्पन्न नहीं होता।

77वीं गाथा में पुद्गल कर्म के स्थान पर अपने परिणामों को जानने की बात करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि ज्ञानी पर के जानने रूप अनेक प्रकार के अपने परिणामों को जानता हुआ भी निश्चय से परद्रव्य की पर्याय रूप परिणमित नहीं होता; उसे ग्रहण नहीं करता और उस रूप उत्पन्न नहीं होता।

78वीं गाथा में कहा गया है कि ज्ञानी जीव पुद्गल के अनंत फल को जानता हुआ भी उनका कर्ता नहीं है।

हर्ष-शोक के परिणाम पुद्गल कर्म के फल हैं, अतः हर्ष-शोक आदि का कर्ता पुद्गल है, आत्मा नहीं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इन तीनों गाथाओं में कहा गया है कि पुद्गल कर्म को जानने वाले, पुद्गल कर्म के फल को जानने वाले, और अपने निर्मल परिणाम को जानने वाले, जीव का पुद्गल के साथ कर्ता-कर्म भाव नहीं है अर्थात् जीव किसी भी रूप में पर का कर्ता नहीं है।

संक्षेप में कहें तो तीनों ही गाथाओं में पर-कर्तृत्व का निषेध किया गया है।

79वीं गाथा में कहा गया है कि जीव के परिणाम को, अपने परिणाम को और अपने परिणाम के फल को, नहीं जानने वाला पुद्गल द्रव्य भी परद्रव्य (जीव) का कर्ता नहीं है; अतः पुद्गल का भी जीव के साथ कर्ता- कर्म भाव नहीं है।

80 से 82 तक की 3 गाथाओं में जीव और पुद्गल के परिणामों में निमित्त- नैमित्तिक संबंध बताते हुए कहा गया है कि जीव के परिणामों के निमित्त से पुद्गल कर्मरूप परिणमता है और पुद्गलकर्म के निमित्त से जीव भी रागादि रूप परिणमित होता है अथवा जब जीव स्वयं स्वाधीनता से राग- द्वेष रूप परिणमता है ,तब जड़कर्म का उदय निमित्त मात्र है । कर्म का उदय निमित्त है, उसने जीव को राग कराया तथा जीव ने राग किया, इस कारण जड़कर्म बंधा - ऐसा दोनों का परस्पर वास्तविक कर्ता-कर्मभाव नहीं है।

संक्षेप में कहें तो जीव -पुद्गल में निमित्त- नैमित्तिकपना होते हुए भी, कर्ता -कर्मपना नहीं है। अतः जीव विकारी परिणाम का कर्ता स्वतंत्रपने है।

83वीं गाथा में कहा गया है कि जीव का अपने ही भावों के साथ कर्ता-कर्मभाव है - यह निश्चयनय का कथन है। जिसप्रकार निश्चयनय से आत्मा अपना कर्ता है; उसीप्रकार निश्चयनय से आत्मा अपने को भोगता है। इसप्रकार निश्चयनय से आत्मा अपने विकारी- निर्विकारी परिणमन का कर्ता-भोक्ता तो है; परंतु निश्चयनय से पर का, पुद्गलकर्म का कर्ता-भोक्ता नहीं है।

84वीं गाथा में पर का कर्ता–भोक्ता कहने की अपेक्षा बताते हुए व्यवहारनय से आत्मा को पर का, पुद्गल का कर्ता– भोक्ता कहा गया है।

85वीं गाथा में अपेक्षा रहित कथन में दोष दिखाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि अपने परिणाम की क्रिया भी आत्मा करे और पर की क्रिया भी आत्मा करे – ऐसा मानने वाला द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि है।

86वीं गाथा में द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि दो द्रव्यों की क्रियाओं को एक द्रव्य करता है – ऐसा मानना द्विक्रियावाद है । अतः जो आत्मा के व पुद्गल के– दोनों के भावों को आत्मा करता है– ऐसा मानते हैं, वे द्विक्रियावादी हैं तथा एक द्रव्य द्वारा दो क्रियाओं का होना मानने वाले द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि हैं।

संक्षेप में कहे तो द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि जीव बिना अपेक्षा के अथवा एक ही अपेक्षा से आत्मा को स्वयं का व पुद्गल के परिणाम का कर्ता मानते हैं, अतः वे अज्ञानी हैं तथा नयों का स्वरूप जानने वाले ज्ञानी जानते हैं कि वस्तुतः निश्चयनय से तो आत्मा अपने परिणामों का ही कर्ता–भोक्ता है; किंतु व्यवहार से उसे परद्रव्यों का कर्ता–भोक्ता भी कहा जाता है।

इसके पश्चात् तात्पर्यवृत्ति गाथा 7 में जीव के स्वकर्तृत्व को उदाहरण रूप में प्रस्तुत कर स्वभोक्तृत्व की सिद्धि करते हुए आचार्यदेव कह रहे हैं कि– जिसप्रकार व्यवहारनय से जीव पुद्गलकर्म के निमित्त से अपने आत्मा में होने वाले विकारी भावों का कर्ता है; उसीप्रकार व्यवहारनय से पुद्गल कर्म के निमित्त से अपने में होने वाले विकारी भावों का भोक्ता भी यही जीव है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि 73 से 86 तक की 14 गाथाओं में आचार्य कुंदकुंद ने कर्ता– कर्म संबंधी होने वाली स्थूल भूलों को बताते हुए उनके सही स्वरूप को नयों के अनुसार बता दिया है।

कुछ मध्यम रुचि बुद्धिमान जन इतने से कर्ता–कर्म, भोक्ता–भोग्य संबंधी भूलों को दूर कर आत्मा में लीन होने का पुरुषार्थ कर सकते हैं; अतः उनके लिए यहाँ तक की गाथाएँ भी पड़ाव हो सकती हैं।

इसके पश्चात् आगामी गाथाओं में विस्तार रुचि शिष्य को समझाने के लिए आचार्य देव अति विस्तार से कर्ता–कर्म, भोक्ता–भोग्य संबंधी और आस्रव, बंधादि संबंधी भूलों का समाधान सहित वर्णन करते हैं।

इन गाथाओं के संदर्भ में मैं इतना ही कहूँगी कि–

जो जीव में नहीं हैं,
जो जीव के भी नहीं हैं;
फिर भी जीव कहा जाता है जिन्हें,
यदि पहचानना चाहते हो तुम उन्हें;
तो समयसार की इन गाथाओं को गहराई से जानना ही होगा।
पुद्गल के फैले विस्तार को बताया है जिनमें,
अजीव को जीव समझने के कारण को समझाया है उनमें।
उन कारणों को गहराई से समझना ही होगा,
अजीव को जीव समझने की भूल को दूर करना ही होगा।
दृष्टि जाएगी जिसकी समयसार की इन गाथाओं की ओर,
बढ़ेंगे उनके कदम भेदविज्ञान की ओर।
पकड़ समयसार की डोर,
बढ़ें भेदविज्ञान की ओर। •

मीडियम समयसार : भाग–2

गाथा 39

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई।
जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूवेंति।।39।।

पदविच्छेद – अप्पाणम्+अयाणंता, परप्प–वादिणो।

शब्दार्थ – अप्पाणम् = आत्मा को; अयाणंता = न जानने वाले; परप्प = पर को आत्मा; वादिणो = कहने वाले; केई = कोई; मूढा दु = अज्ञानी जीव तो; अज्झवसाणं = रागादि अध्यवसान को; च तहा = और कोई; कम्मं = ज्ञानावरणादि कर्म को; जीवं = जीव; परूवेंति = कहते हैं।

संदर्भ :– अजीव को जीव समझने की भूल का वर्णन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द इस गाथा में कहते हैं कि–

अर्थ :– आत्मा को नहीं जाननेवाले 'पर' को ही आत्मा मानने वाले कोई अज्ञानी जीव तो रागादि अध्यवसान रूप भावकर्म और द्रव्यकर्म को जीव कहते हैं। यह कहनेवाले निश्चयवादी नहीं हैं – ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है।

व्याख्या :– इस गाथा में आत्मा के सही स्वरूप को नहीं मानने वाले, 'पर' को ही आत्मा मानने वाले अज्ञानी जीव की दो मान्यताओं को बताते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि –

(क) कुछ अज्ञानी जीव स्वयं से उत्पन्न हुए राग–द्वेष द्वारा मलिन मिथ्या अभिप्राय सहित विभाव परिणामों (अध्यवसान) को जीव मानते हैं अर्थात् भावकर्म को ही जीव मानते हैं।

मिथ्या अभिप्राय सहित विभाव परिणामों को **अध्यवसान** कहते हैं अर्थात् अज्ञानियों के पर में एकत्व बुद्धि पूर्वक होने वाले मोह-राग-द्वेषादि भाव ही अध्यवसान कहलाते हैं।

(ख) कुछ लोग ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म को ही जीव मानते हैं। इसप्रकार की मान्यतावाले जीव जैनों में भी पाए जाते हैं और अन्य मत में वेदान्ती राग-द्वेष से कलुषित अध्यवसानों को ही जीव मानते हैं तथा मीमांसक कर्मों को जीव मानते हैं।

इसप्रकार हम कह सकते हैं कि इस गाथा में आचार्यदेव ने वेदान्तियों और मीमांसकों की आत्मा संबंधी मान्यता को भी बताया है।

इस गाथा की प्रथम पंक्ति 40 से 43 वीं गाथा तक के लिए आदि दीपक के रूप में प्रयुक्त की गयी है; अर्थात् इसका अर्थ उक्त सभी गाथाओं के आरंभ में लगेगा तथा गाथा 43 की अंतिम पंक्ति, अंत दीपक का काम कर रही है; अतः उसका अर्थ भी 39 से 42 तक की सभी गाथाओं के साथ लगेगा। यही कारण है कि उपलब्ध सभी टीकाओं में यह पाँच गाथाएँ एक साथ ही लिखी गई हैं; किंतु सरलता की दृष्टि से मैंने इनको अलग-अलग ही प्रस्तुत किया है।

अज्ञानी जीव की भूल बताते समय एक बहुत बड़ी गलती करते हुए लोगों को मैंने देखा है। आपको भी अक्सर लोग यह कहते हुए मिल जाएँगे कि– 'पर में अपनापन और अपने में परायापन' ही अज्ञानी जीव की सबसे बड़ी भूल है।

यहाँ मैं आप सभी का विशेष ध्यान आकर्षित करना चाहूँगी कि 'अपने में परायापन' यह कथन सही नहीं है; क्योंकि जो जीव अपना स्वरूप जान लेता है, वह अपने को 'पर' मान नहीं सकता और जो अपना स्वरूप ही नहीं जानता, वह भी अपने को जाने बिना 'पर' कैसे मानेगा?

वास्तव में अपने में परायापन हो ही नहीं सकता। अपने में तो अपनापन ही होता है। अपना स्वरूप नहीं जानने से अज्ञानी पर में अपनापन कर लेता है, अतः अपने में अपनापन होने के लिए अपना वास्तविक स्वरूप जानना अति आवश्यक है।

इसी बात की ओर विशेष ध्यान आकर्षित करते हुए आचार्यदेव कह रहे हैं कि – 'आत्मा को नहीं जानने वाले, अपने स्वरूप को नहीं जानने वाले, 'पर' को ही आत्मा मानते हैं।'

पर को आत्मा मानने वाले अनेक प्रकार के हो सकते हैं। उनमें से मुख्य दो मान्यताओं को इस गाथा में और अन्य छह मान्यताओं को आगामी 3 गाथाओं में बताया जाएगा।

इस गाथा में भावकर्म और द्रव्यकर्म को जीव मानने रूप परात्मवादी मान्यता का सामान्य कथन किया गया है।

यहाँ किसी को शंका हो सकती है कि जो भावकर्म व द्रव्यकर्म का स्वरूप जानते हैं, उनसे तो यह भूल हो सकती है; पर जो मोह, राग, द्वेष और ज्ञानावरण आदि कर्मों के नाम तक से परिचित नहीं हैं, वे ऐसी भूल कैसे करेंगे? उनसे तो यह गलती हो ही नहीं सकती।

नहीं, ऐसा नहीं है। जिसप्रकार छोटा बालक राग-द्वेष यह नाम नहीं जानता, फिर भी वह अनुकूल लगने वाले पदार्थों को अच्छा व प्रतिकूल परिस्थितियों को दु:खदायी जानता ही है; तभी तो गीला होने पर या दर्द होने पर रोता है। उसीप्रकार अज्ञानी भले ही भावकर्म, द्रव्यकर्म के नाम न जाने, पर वह उसके भाव से परिचित होता है, जिसकी चर्चा आगामी गाथाओं में यथास्थान की गई है।

इसके पश्चात् 40वीं गाथा में भावकर्म का विशेष कथन और नोकर्म का सामान्य कथन करते हुए अन्य दो परात्मवादी मान्यता को बताया गया है। ●

गाथा 40

अवरे अज्झवसाणेसु तिव्वमंदाणुभागगं जीवं।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवो त्ति।।40।।

पदविच्छेद :– तिव्व–मंद+अणुभागगं।

शब्दार्थ :– अवरे = अन्य कोई, दूसरे कोई; तिव्व = तीव्रता; मंद = मंदता; अणुभागगं = अनुभागगत; मण्णंति = मानते हैं; तहा=तथा; णोकम्मं= नोकर्म को; चावि–और भी।

संदर्भ :– इस गाथा में भावकर्म और नोकर्म रूप अनात्मा (अजीव) को आत्मा मानने की भूल बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि–

अर्थ :– आत्मा के सही स्वरूप को नहीं जानने वाले और 'पर' को ही जीव मानने वाले अन्य कुछ अज्ञानी एकान्तीजन रागादि अध्यवसानों के तीव्र– मंद अनुभाग को जीव मानते हैं और कुछ अज्ञानी शरीरादि रूप नोकर्म को जीव मानते हैं। यह कहनेवाले निश्चयवादी नहीं हैं – ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है।

व्याख्या :– इस गाथा की प्रथम पंक्ति में अध्यवसानों के बारे में विशेष कथन करते हुए कहा गया है कि कुछ अज्ञानी तीव्रता–मंदता के भेदरूप रागादि अध्यवसानों की संतति को ही जीव मानते हैं। सांख्यमत की यही मान्यता है।

इस गाथा की द्वितीय पंक्ति में नोकर्म के संबंध में सामान्य कथन करते हुए कहा है कि कुछ अज्ञानी जन विभिन्न अवस्थाओं को धारण करने वाले शरीर को ही जीव मानते हैं। वैशेषिकमत वाले भी नई–नई दशा को प्राप्त शरीर को ही जीव मानते हैं।

इसके पश्चात् 41वीं गाथा में द्रव्यकर्म के बारे में विशेष कथन किया जा रहा है •

गाथा 41

कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभागमिच्छंति।
तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो।।41।।

पदविच्छेद :- कम्मस्स+उदयं, कम्म+अणुभागम्+इच्छंति, तिव्वत्तण-मंदत्तण-गुणेहिं।

शब्दार्थ :- कम्मस्स= कर्म के; उदयं= उदय को; अवरे= अन्य कोई; कम्म= कर्म के; अणुभागं= अनुभाग को; इच्छंति= मानते है; तिव्वतण= तीव्रता रूप; मंदत्तण= मंदता रूप; गुणेहिं= गुणों से (भेद को प्राप्त होता है); सो= वह; हवदि= होता है।

संदर्भ :- इस गाथा में द्रव्यकर्म को आत्मा मानने रूप अज्ञानी की मान्यता को बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि-

अर्थ :- आत्मा के स्वरूप को न जानने वाले और 'पर' को ही जीव मानने वाले अन्य कुछ अज्ञानीजन द्रव्यकर्म के उदय को जीव मानते हैं और अन्य कोई जन तीव्रता-मंदता रूप गुणों से भेद को प्राप्त कर्म के अनुभाग को जीव मानते हैं। यह कहनेवाले निश्चयवादी नहीं हैं - ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है

व्याख्या :- पिछली गाथाओं में भावकर्म के उदय और अनुभाग को जीव मानने रूप दो मान्यताओं को प्रस्तुत किया था, अब इस गाथा में द्रव्यकर्म के उदय और अनुभाग की दृष्टि से दो भेद कर अज्ञानी की जीव संबंधी विपरीत मान्यताओं को बताया जा रहा है।

कुछ जीव द्रव्यकर्म के उदय में प्राप्त होने वाले पुण्य-पाप के फल को ही जीव मानते हैं और कुछ जीव साता-असाता रूप के समस्त तीव्र-मंदत्व गुणों से भेदरूप होने वाले कर्म को ही जीव कहते हैं। जैसे- बौद्धमतानुयायी क्षणिक शुभ-अशुभ भावों को ही जीव मानते

हैं और योग मतानुयायी शुभ-अशुभ भावों के फल स्वरूप होने वाले सुख-दु:ख को ही जीव मानते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा में द्रव्यकर्म को जीव मानने रूप अज्ञानी की दो विपरीत मान्यताओं को बताया गया है।

इसके बाद 42वीं गाथा में कर्म और आत्मा की मिली-जुली पर्याय को जीव मानने की मिथ्या मान्यता का स्वरूप बताया जा रहा है।

•

प्रश्न : क्या साता-असाता से व्याप्त सुख-दुःख का अनुभव जीव है? नहीं तो क्यों? और वास्तविक आत्मा क्या है?

अथवा

प्रश्न : अज्ञानी ज्ञानावरण आदि कर्मों के नाम न जानने पर भी कर्म का अनुभव किस रूप में करते हैं?

उत्तर : नहीं, साता-असाता से व्याप्त सुख-दुःख का अनुभव जीव नहीं है; क्योंकि धन, संपत्ति, कुटुंब, परिवार आदि बाह्य सामग्री की अनुकूलता में सुख का अनुभव और उनकी प्रतिकूलता में जो दु:ख का अनुभव होता है; वह कर्म का अनुभव है, आत्मा का नहीं। इसीप्रकार निरोगी शरीर में सुख का अनुभव और बीमार शरीर में दु:ख का अनुभव भी कर्म का अनुभव है, आत्मा का नहीं। इसप्रकार अज्ञानी ज्ञानावरण आदि कर्मों को नाम से न जानने पर भी कर्म के उदय के रूप में, कर्म के फल के रूप में कर्म का अनुभव करता है। यह साता-असाता का अनुभव आत्मा नहीं है। इस सुख-दु:ख में आत्मा नहीं है। सुख-दु:ख से भिन्न चैतन्यस्वभावमय वस्तु ही आत्मा है।

-प्रवचनरत्नाकार भाग-2, गाथा-44 के आधार से पृष्ठ-189

गाथा 42

जीवो कम्मं उहयं दोण्णि वि खलु केइ जीवमिच्छंति।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति।।42।।

पदविच्छेद :– जीवम्+इच्छंति।

शब्दार्थ:– कम्मं= कर्म के; उहयं= दोनों; दोण्णि वि खलु= दोनों मिले हुओं को ही, दोनों की मिलजुली पर्याय को ही; कम्माणं संजोगेण= कर्म के संयोग से ही।

संदर्भ :– इस गाथा में जीव और कर्म की मिली-जुली पर्याय के संबंध में होने वाली अज्ञानता की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि-

अर्थ :– आत्मा के स्वरूप को न जानने वाले और 'पर' को ही जीव मानने वाले अन्य कुछ अज्ञानी जन जीव और कर्म दोनों के मिले रूप को जीव मानते हैं और कुछ अन्य जन कर्म के संयोग को ही जीव मानते हैं। यह कहनेवाले निश्चयवादी नहीं हैं - ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है।

व्याख्या :– इस गाथा की प्रथम पंक्ति में कहा गया है कि जिसप्रकार दही और चीनी मिले हुए उभयरूप को श्रीखंड कहते हैं; उसीप्रकार कुछ जन आत्मा और कर्म के मिले हुए रूप को ही जीव कहते हैं। जैसे नैयायिकमत वाले मानते हैं।

इस गाथा की द्वितीय पंक्ति में कर्म के संयोग को ही जीव कहा गया है। जिसप्रकार आठ लकड़ियों के संयोग से भिन्न अलग कोई पलंग दिखाई नहीं देता; उसीप्रकार कर्मों के संयोग से भिन्न अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता। जैसे चार्वाक मतवाले मानते हैं।

इसप्रकार शरीर को ही आत्मा मानने वाले अनेकों जन आपको अपने आसपास भी नजर आ जायेंगे।

इसप्रकार हम देखते हैं कि 39वीं गाथा से 42वीं गाथा तक की चार गाथाओं में परद्रव्य को आत्मा मानने वाले अज्ञानी–जीव की आठ प्रकार की मान्यताओं को बताया गया है।

भारतीय दर्शन शास्त्र में मुख्य रूप से नौ दर्शन प्रसिद्ध हैं। जिनमें से आठ मान्यताओं की चर्चा उक्त चार गाथाओं में आ गई है। नौवाँ दर्शन जैनदर्शन है, जिसकी चर्चा आगामी गाथाओं में की जाएगी।

इन आठ प्रकार की मान्यताओं को हम मोटे तौर पर तीन रूपों में विभाजित कर सकते हैं – भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म के उदय–अनुदय, तीव्रता–मंदता और संयोग को ही आत्मा मानना और उनसे भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा को न जानना; क्योंकि इन तीनों में पुद्‌गलमय शरीर, पौद्‌गलिक कर्म और उनके उदय में होनेवाले सभी औदयिकभाव–शुभाशुभभाव, सांसारिक सुख–दु:ख, जीव और कर्म का संयोग आदि सभी आ जाते हैं।

इसके पश्चात् 43वीं गाथा में पर को आत्मा मानने की अन्य संभावनाओं के बारे में कथन कर अज्ञानी जीव की मान्यता को समेटा जा रहा है। ●

श्री कलश टीका के कलश 189 में कहा है कि पठन–पाठन, श्रवण, चिंतवन, स्तुति, वंदना – यह सब क्रिया–कलाप विकल्प हैं, राग हैं। विकल्प व राग आत्मा नहीं हैं।

चैतन्य स्वभावी अखंड, एकरूप, त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव रूप आत्मा राग से भिन्न है। सम्यग्दृष्टि आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। **यह अनुभव ज्ञान व आनंद के वेदन सहित होता है।**

प्रत्यक्ष अनुभव में पर का आश्रय बिल्कुल नहीं है। आत्मा पर के आश्रय रहित मतिश्रुतज्ञान से प्रत्यक्ष अनुभव में आता है।

प्रवचनरत्नाकर भाग–2 , गाथा–44 के आधार से

गाथा 43

एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा।
ते ण परमट्ठवादी णिच्छयवादीहिं णिद्दिट्ठा।।43।।

पदविच्छेद :– परम्+अप्पाणं।

शब्दार्थ :– एवंविहा = इसप्रकार के; बहुविहा = अन्य भी अनेक प्रकार के; दुम्मेहा = दुर्बुद्धि मिथ्यादृष्टि जीव; परम = पर को; अप्पाणं = आत्मा; वदंति = कहते है; ते=उन्हें; णिच्छ्यवादीहि = निश्चयवादियों ने; परमट्ठवादी = परमार्थवादी, सत्यार्थवादी; णिद्दिट्ठा = कहा है।

संदर्भ :– पर को ही आत्मा मानने वालों को निश्चयवादी सर्वज्ञ भगवान क्या कहते हैं? यह बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द इस गाथा में कहते हैं कि–

अर्थ :– आत्मा के सही स्वरूप को नहीं जानने वाले और 'पर' को ही जीव मानने वाले इसप्रकार और भी अन्य अनेक प्रकार से 'पर' को ही आत्मा मानने वाले दुर्बुद्धि हैं, मिथ्यादृष्टि हैं। वे परमार्थवादी, सत्यार्थवादी नहीं है– ऐसा निश्चयनय के जानकार सर्वज्ञदेव ने कहा है।

व्याख्या :– इस गाथा की प्रथम पंक्ति में आचार्यदेव कहना चाह रहे हैं कि 'पर' को आत्मा मानने वालों के 8 प्रकार तो मैंने बता दिए; पर अन्य अनेक प्रकार से भी 'पर' को आत्मा माना जा सकता है।

संक्षेप में कहें तो ज्ञान–दर्शन स्वभाव से रहित अन्य किसी भी परपदार्थ को आत्मा मानने वाले दुर्बुद्धि हैं; मिथ्यादृष्टि हैं, सत्य बोलने वाले नहीं हैं।

इस गाथा की द्वितीय पंक्ति में आचार्यदेव एकबार पुनः स्पष्ट कर रहे हैं कि यह सब कुछ जो मैं कह रहा हूँ वह मेरे मन की कपोल कल्पना

नहीं; नयों के जानकार सर्वज्ञदेव की वाणी है। जो परंपरा से मुझ तक पहुँची है। 'सर्वज्ञदेव ने परात्मवादियों को परमार्थवादी, निश्चयवादी, सत्यार्थवादी नहीं कहा है,' यह पंक्ति 39 से 42 तक की सभी गाथाओं में अंत दीपक का काम करेगी अर्थात् इसका अर्थ सभी गाथाओं के साथ लगेगा। जिसे संक्षेप में हम निम्नप्रकार कह सकते हैं– आत्मा के सही स्वरूप को नहीं जानने वाले, पर को ही आत्मा मानने वाले, मिथ्यादृष्टि जन अध्यवसान (भावकर्म), द्रव्यकर्म, अध्यवसान संतति, शरीर (नोकर्म), शुभाशुभ भाव, सुख–दुःख आदि कर्म विपाक, आत्मा और कर्म दोनों मिले हुए, और कर्म के संयोग को जीव कहने वाले निश्चयवादी नहीं है।

39 से 42 तक की गाथाओं में जिन आठ प्रकार के पदार्थों या भावों को जीव कहा गया है। उन्हें जीव मानने में एक ही तर्क दिया जाता है कि उससे भिन्न अन्य कोई जीव दिखाई नहीं देता। यह उनका अपना अनुभव है। अतः आचार्यदेव इस 43वीं गाथा में निश्चयवादी, आत्मानुभवी सर्वज्ञदेव के कथन की बात कर ज्ञानियों का अनुभव बता कर अज्ञानियों के अनुभव का खंडन कर रहे हैं।

यद्यपि अपने अनुभव का तर्क अज्ञानी व ज्ञानी दोनों ने दिया है, तथापि निम्न दो कारणों से ज्ञानियों का कथन मान्य होगा; अज्ञानियों का नहीं।

(1) दिखाई नहीं देने वाले 'तर्क' से; दिखाई देने वाले 'तर्क' अधिक प्रबल होते हैं; क्योंकि ऐसा तो संभव है कि कोई वस्तु हो और वह हमें दिखाई न दे, पर ऐसा संभव नहीं होता कि कोई वस्तु न हो और वह दिखाई दे जावे।

(2) दूसरी बात– भेदज्ञानियों का अनुभव सर्वज्ञ भगवान कथित आगम से भी प्रमाणित होता है; अतः अज्ञानियों के अनुभव को प्रमाणित न मानकर; भेदज्ञानियों के अनुभव को ही लोक में सर्वत्र प्रमाणित माना जाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि 39 से 43 तक की 5 गाथाओं में आचार्य कुन्दकुन्द ने अज्ञानी जीव की उन मान्यताओं को बताया है, जिन्हें वह अपने अनुभव के आधार पर मानता है। जैसे - अज्ञानी यह सोचता है कि मैंने तो आज तक अपने को जब भी देखा है; शरीर के साथ ही देखा है। शरीर से रहित तो मैंने अपने आप को कभी देखा ही नहीं है, अतः शरीर ही जीव होना चाहिए।

फिर कभी स्वयं ही अपनी बात को काटते हुए वही सोचता है कि अपनी आत्मा को न सही; किंतु 'पर' की आत्मा को तो शरीर से जुदा होते हुए देखा है, तो शरीर से भिन्न 'आत्मा' कुछ जुदा होना ही चाहिए।

फिर वह सोचता है कि राग-द्वेष आदि भाव ही जीव हैं। जीव हमेशा यही करता तो नजर आता है और ये क्रियाएँ अजीव में तो पाई नहीं जाती हैं; अतः ये ही जीव हैं।

यह राग-द्वेष घटते-बढ़ते रहते हैं। इनका घटना-बढ़ना ही जीव की पहचान है। जो अच्छे या बुरे कार्य करता है, उनके उदय के फल को भोक्ता है। इसप्रकार हमारे अच्छे-बुरे कर्मों को भोगते हैं। तो बस हम और हमारे कर्म - ये सब मिलकर ही तो हमारा जीवन बनाते हैं। यही सब तो जीव हैं।

वैसे तो अज्ञानियों की सोच और महिमा अपरंपार है; फिर भी उनकी हजारों विपरीत मान्यताओं में से मुख्य 6 मान्यताओं का वर्णन आचार्य कुन्दकुन्द ने उक्त गाथाओं में किया है।

इसप्रकार की मान्यता अनेक अज्ञानियों की भी हो सकती है और भिन्न-भिन्न समय में एक अज्ञानी की भी। ऐसी मान्यता वाले जीव हमारे-तुम्हारे बीच हजारों भरे पड़े हैं। इतना ही नहीं, इन मान्यताओं के आधार पर पूरे के पूरे 8 मत चलते हैं। जिनकी चर्चा यथास्थान की गई है।

फिलहाल दूसरों की बात जाने दो, हमें तो अपनी ही बात करनी है। इन गाथाओं से, हमें चिन्तन के ये बिंदु मिलते हैं कि आत्मा संबंधी हमारी मान्यता क्या है? कहीं हम भी तो इसीप्रकार की कोई गलती नहीं कर रहे हैं? जो जीव अपनी गलती समझकर सुधार लेंगे, वे ही ज्ञानी बनने की ओर कदम बढ़ाएँगे; ज्ञानी बनेंगे।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इस गाथा में पूर्वोक्त 8 मान्यताओं का निषेध कर सामान्य कथन किया गया है।

इसके पश्चात् 44वीं गाथा में विशेष तर्कों द्वारा विशेष कथन करते हुए परात्मवादियों की मान्यता में आने वाले अन्य दोष को बताया जा रहा है। ●

प्रश्न : सही पुरुषार्थ क्या है? और वह किसमें होता है –स्व में या पर में?

अथवा

क्या पुरुषार्थ करने पर अनुभव होता ही है?

उत्तर : हाँ, सही पुरुषार्थ करने पर अनुभव होता ही है। सही पुरुषार्थ स्व में ही संभव है, पर में नहीं।

परवस्तु के प्रयत्न में, पुरुषार्थ में परवस्तु की प्राप्ति न हो तो कोई आश्चर्य नहीं; क्योंकि पर में तो पुरुषार्थ चलता ही नहीं है; परंतु स्वरूप में पुरुषार्थ पूर्वक अनुभव का अभ्यास करें तो उसकी प्राप्ति न हो – ऐसा तीन काल में भी नहीं हो सकता। जो स्वरूप प्राप्त न हुआ हो तो यह समझना चाहिए कि अभी स्वभाव की तरफ के पुरुषार्थ में कुछ कमी है, त्रुटि है।

यहाँ अभ्यास का अर्थ अकेला शास्त्रों को पढ़ना व सुनना मात्र नहीं है; किंतु निज शुद्ध चैतन्य में एकाग्रता करने के पुरुषार्थ की बात है। ऐसा पुरुषार्थ स्व में करने पर अनुभव होता ही है।

–प्रवचनरत्नाकर भाग–2, कलश–34 के प्रवचन के आधार से पृष्ठ–196

गाथा 44

एदे सव्वे भावा पोग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चंति।।44।।

पदविच्छेद :- पोग्गलदव्व-परिणाम-णिप्पण्णा, केवलि-जिणेहिं

शब्दार्थ:- एदे= यह (पहले कहे गये); सव्वे= सभी; भाव=भाव हैं; पोग्गलदव्व= पुद्गलद्रव्य के; परिणाम णिप्पण्णा = परिणाम से उत्पन्न हुए है; केवली जिणेहिं= सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव ने; भणिया= कहा है; ते= उन्हें; जीवो त्ति= जीव ऐसा; कह वुच्चंति= कैसे कहा जा सकता है।

संदर्भ :- राग-द्वेषादि अध्यवसानादि भाव को जीव मानने में उत्पन्न दोष को बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द इस गाथा में कहते हैं कि-

अर्थ :- ये पूर्वकथित भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म आदि रूप सभी अध्यवसानादि भाव (पर्यायें) पुद्गल द्रव्य के परिणाम से उत्पन्न हुए हैं- ऐसा केवली भगवान ने कहा है; अतः उन्हें जीव कैसे कहा जा सकता है?

व्याख्या :- इस गाथा में प्रयुक्त 'एदे सव्वे भावा' द्वारा 39 से 42 तक की गाथाओं में बताई गई आठों मान्यताओं की ओर इशारा किया गया है। उन सबको मिलाकर अर्थ करने पर निम्न प्रकार वाक्य बनेगा-

''स्वयं से उत्पन्न राग-द्वेष से मलिन अध्यवसान जीव नहीं है, अनादि-अनंत संसरण (भ्रमण) रूप क्रिया के रूप में क्रीड़ा करता हुआ कर्म जीव नहीं है, राग रस से भरे हुए अध्यवसानों की संतति जीव नहीं है, नोकर्म रूप शरीर जीव नहीं है, तीव्रता-मंदता और सुख-दु:खरूप कर्म का अनुभव जीव नहीं है, आत्मा और कर्म की मिलावट जीव नहीं है तथा अर्थक्रिया करने में समर्थ, कर्म का संयोग भी जीव

नहीं है; क्योंकि ये सभी पर्यायें पुद्गल द्रव्य के उदय रूप परिणाम से उत्पन्न हुए हैं। अतः इन्हें जीव कैसे कहा जा सकता है? अर्थात् इन्हें जीव नहीं कह सकते हैं।''

'केवलि जिणेहिं' यहाँ केवली भगवान से तात्पर्य अरहंत भगवान से है, सिद्धों से नहीं; क्योंकि सिद्धों की दिव्यध्वनि नहीं खिरती।

अध्यवसानादि सभी भाव पुद्गल परिणाममय होने से और चैतन्यपने के अभाव के कारण जीव नहीं हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो अज्ञानी जीव अज्ञानवश जिन राग–द्वेष रूप अध्यवसानादि भावों को जीव मानते हैं, वे सभी भाव पुद्गल द्रव्यकर्म के निमित्त से उत्पन्न होने से उन्हें जीव नहीं कहा जा सकता। जैसे– दही व शक्कर मिलकर श्रीखण्ड बनता है, वैसे आत्मा व कर्म मिलकर जीव नहीं बना है। राग, कर्म वगैरह तो जड़ अचेतन स्वरूप हैं और जीव चेतन स्वरूप है।

दूसरी बात अध्यवसानादि भावों से भिन्न अन्य चैतन्य स्वभावरूप जीव इन्द्रियों के आश्रय के बिना भेदज्ञानियों द्वारा स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव किया जाता है। इसप्रकार इस गाथा में अध्यवसानादि भावों को जीव मानने की आठों मान्यताओं का प्रत्यक्ष और युक्तिपूर्वक निराकरण कर दिया गया है।

राग–द्वेष रूप अध्यवसानादि को जीव मानने रूप आठों मान्यताएँ आगम विरुद्ध हैं – यह बात तो 43वीं गाथा में आचार्यदेव ने बता ही दी थी। इसप्रकार आगम, युक्ति और ज्ञानियों के अनुभव से यह सिद्ध हो जाता है कि अध्यवसानादि भावों को जीव मानने रूप आठों मान्यताएँ सही नहीं हैं।

इसके पश्चात् 45वीं गाथा में आठों कर्मों की पुद्गलमयता सिद्ध की जा रही है।

•

गाथा 45

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पोग्गलमयं जिणा बेंति।

जस्स फलं तं वुच्चदि दुक्खं ति विपच्चमाणस्स।।45।।

शब्दार्थ :– अट्ठविहं पि य= आठों प्रकार का; कम्मं= कर्म; सव्वं= सब; पोग्गलमयं= पुद्‌गलमय हैं; जिणा= जिनेन्द्र भगवान; बेंति= कहते हैं; जस्स विपच्चमाणस्स= जो पकने पर उदय में आने वाले (कर्मों का); फलं= फल; दुक्खं= दुःख है; ति वुच्चदि= ऐसा कहा है।

संदर्भ :– इस गाथा में द्रव्यकर्म को जीव मानने रूप अज्ञानी की मान्यता में दोष बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि–

अर्थ :– जिनेन्द्र भगवान कहते हैं कि आठों प्रकार के सभी कर्म पुद्‌गलमय हैं और उनके पकने पर उदय में आने वाले कर्मों का फल दु:ख कहा गया है।

व्याख्या :– 44वीं गाथा में अध्यवसानादि सभी भावों की उत्पत्ति पुद्‌गल के निमित्त से बताई थी और इस गाथा में उन अध्यवसानादि के कारण रूप द्रव्यकर्मों को पुद्‌गल स्वरूप और उनके उदय आने पर उनका फल दु:खरूप बताया जा रहा है।

आचार्यदेव कहते हैं कि यद्यपि हमें यह अध्यवसानादि भाव चेतन के अतिरिक्त जड़ में होते दिखाई नहीं देते; तथापि वे चेतन नहीं हैं; क्योंकि ये पुद्‌गल स्वभावी हैं, पुद्‌गल से उत्पन्न होते हैं। अध्यवसानादि समस्त भावों को उत्पन्न करने वाले आठों प्रकार के ज्ञानावरणादि कर्म भी पुद्‌गलमय हैं। जब कर्म उदय में आता है, तब जीव दु:खरूप परिणमित होते हैं। इसलिए दु:खरूप भावों में चेतनता का भ्रम उत्पन्न होता है। अतः अज्ञानी उन भावों को जीव मान लेता है; किंतु परमशुद्धनिश्चयनय से वे अध्यवसानादि दु:खरूप भाव चेतन नहीं हैं,

कर्मजन्य हैं; इसलिए जड़ हैं; अतः उन्हें जीव नहीं माना जा सकता है। जीव तो ज्ञानानन्द स्वभावी है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि पुद्गल से उत्पन्न होने वाले पुद्गलमय अध्यवसानादि भाव चैतन्य में, जीव में प्रतिभासित होते हैं। वस्तुतः वे जीव नहीं है, 'पौद्गलिक' हैं।

इसके पश्चात् 46वीं गाथा से 48वीं गाथा तक की तीन गाथाओं में पौद्गलिक अध्यवसानादि भाव को जीव कहने की अपेक्षा उदाहरण सहित समझाई गई है। ●

इस अज्ञानी जगत को अनादि संसार से अब तक रागवाला जीव, पुण्यवाला जीव, भेदवाला जीव – इसप्रकार 'अशुद्ध जीव' का ही परिचय है। रागरहित, भेदरहित शुद्ध आत्मा को अज्ञानी जीव जानते ही नहीं हैं। इसलिए ऐसे अज्ञानियों को समझाने के लिए, शुद्ध जीव का ज्ञान कराने के लिए 'जो यह वर्णादिमान जीव है; वह ज्ञानमय है, वर्णादिमय नहीं है'– ऐसा कहते हैं। 'जो यह रागवाला जीव है, वह ज्ञानमय है' – ऐसा कहकर यह निषेध किया है कि 'जीव रागमय नहीं है।' अज्ञानी को रागरहित जीव से परिचय नहीं है, इसकारण उसे रागवाला जीव कहकर तो केवल पहचान कराई है कि जिसे तू रागवाला मानता है वह रागवाला नहीं ज्ञानमय है। अज्ञानी को अनादि से अशुद्धता है, अतः प्रसिद्ध है; इसकारण इसे समझाया है। इसमें 'रागवाला' कहकर व्यवहार बताया है तथा 'ज्ञानमय' कहकर निश्चय दर्शाया है अर्थात् जीव निश्चय से ज्ञानमय ही है तथा व्यवहार से रागवाला कहा जाता है। व्यवहार तो 'रागवाला जीव' ऐसा है, परंतु बताना यह है कि जीव ज्ञानमय ही है।

प्रवचनरत्नाकर भाग–2, पृ. 364–365

गाथा 46

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा।।46।।

पदविच्छेद :– दरीसणम्+उवएसो।

शब्दार्थ :– जिणवरेहिं = जिनेन्द्रदेव द्वारा; ववहारस्स=व्यवहारनय से; एदे सव्वे= यह सभी; अज्झवसाणादओ भावा= अध्यवसानादि भावों को; ववहारस्स= व्यवहारनय से; जीवा= जीव का; दरीसणम= (दिखाया)कहा गया है; उवएसो= उपदेश दिया है

संदर्भ :– इस गाथा में अध्यवसानादि भावों को जीव कहने की अपेक्षा बताते हुए कहा जा रहा है कि–

अर्थ :– जिनेन्द्रदेव द्वारा बताए गए जिनमत में अध्यवसानादि भावों को व्यवहारनय से जीव का कहा गया है।

व्याख्या :– इस गाथा में अध्यवसानादि सभी भावों को व्यवहार से जीव का कहा जा रहा है।

यह पढ़कर पाठकों के मन में प्रश्न उठ सकता है कि 43वीं गाथा में अध्यवसानादि भावों को जीव मानने वाले को मिथ्यादृष्टि कहा था, दुर्बुद्धि कहा था और अब इस गाथा में स्वयं उन्हें जीव कह रहे हैं? यह तो परस्पर विरोधी कथन हो गए।

ऐसा सोचने वाले पाठकों की ओर ही आचार्यदेव ने विशेष ध्यान आकर्षित करते हुए कहा है कि कोई भी कथन अपेक्षा सहित ही सही या गलत होता है। जिसप्रकार सीता पत्नी भी है, और बेटी भी है; परंतु यदि कोई कहे कि सीता राम की बेटी थी और जनक की पत्नी, तो गलत हो जाएगा; उसीप्रकार अध्यवसानादि सभी भाव अजीव भी हैं और जीव भी हैं। यदि कोई कहे कि निश्चय से अध्यवसानादि भाव

जीव ही हैं, व्यवहारनय से अजीव ही हैं; तो गलत हो जाएगा अथवा जिसप्रकार अपेक्षा बताए बिना कोई कहे सीता बेटी ही है, पत्नी ही है; तो यह भी गलत हो जाएगा। उसीप्रकार अपेक्षा बताए बिना कोई कहे कि अध्यवसानादि भाव अजीव ही हैं या जीव ही हैं, तो यह भी गलत होगा। यही कारण है कि आचार्यदेव ने 43वीं और 44वीं गाथा में अपेक्षा स्पष्ट कर दी है।

निश्चयनय से अध्यवसानादि सभी भाव जीव नहीं है और उन्हें व्यवहारनय से जीव कहा जाता है। हमारे दैनिक जीवन में भी हम इसप्रकार का प्रयोग करते हैं। जैसे– यह जगत मामा है अर्थात् यह वास्तव में हमारे मामा नहीं है; पर हम सभी इन्हें मामा कहते हैं।

इसप्रकार 46वीं गाथा में व्यवहारनय का सामान्य कथन कर अध्यवसानादि भावों को जीव कहा गया है।

अब इसी बात को 47वीं गाथा में उदाहरण द्वारा विशेष रूप से समझाया जा रहा है। ●

हमें क्या करना चाहिए?

संसारी जीव का हृदय आकांक्षाओं से कलुषित रहता है, काम भोगों से मुर्छित रहता है– ऐसा जीव भोग न भोगते हुए भी भावकर्म बांधता है। अतः बंध रहित होने के लिए दुर्ध्यान छोड़कर, निर्ममत्व में स्थिर होकर प्रतिज्ञा करना चाहिए कि मैं अन्य पदार्थों में ममत्व बुद्धि का त्याग करता हूँ। मुझे आत्मा का ही अवलंबन है, अन्य सर्व का मैं त्याग करता हूँ।

बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा–57 की टीका के आधार से पृ 264

गाथा 47

राया हु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्स आदेसो।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेक्को णिग्गदो राया।।47।।

पदविच्छेद :– बल–समुदयस्य, तत्थ+इक्को

शब्दार्थ :– राया = राजा की; णिग्गदो = निकलने पर; त्ति य एसो = इस प्रकार जो यह; बल समुदयस्स = सेना के समुदाय को; आदेसो = कहा जाता है; ववहारेण दु = व्यवहार से ही; उच्चदि = कहा जाता है; तत्थ = उस (सेना में); एक्को = एक ही (राजा); णिग्गदो = जाता है।

संदर्भ :– इस गाथा में साधारण शिष्यों को समझाने के लिए व्यवहारनय के कथन को उदाहरण के द्वारा समझाते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि–

अर्थ :– सेना सहित राजा के निकलने पर जो यह कहा जाता है कि 'राजा निकला'– यह व्यवहारनय से ही कहा जाता है; निश्चय से तो वहाँ एक ही राजा जाता है।

व्याख्या :– इस गाथा में व्यवहारनय के कथन को राजा के निकलने के उदाहरण द्वारा समझाया गया है। हम भी अपने जीवन में इस तरह के प्रयोग करते रहते हैं। जैसे– जब हमने भीड़ देखकर, ट्रैफिक रुका देखकर पूँछा – 'क्या बात है? ट्रैफिक क्यों रोक दिया गया है।' जवाब मिलता है –'प्रधानमंत्री जा रहे हैं।' तब हम प्रधानमंत्री को देखने की उत्सुकता से यहाँ–वहाँ नजर दौडाते हैं, पर प्रधानमंत्री तो कहीं नजर ही नहीं आते। वह तो कब के आगे निकल गए होते हैं। उनके पीछे जाने वाले उनके सुरक्षाकर्मियों की लंबी कतारें ही हमें नजर आती हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जिसप्रकार गाथा में सेना–समुदाय में

राजा कहने का व्यवहार दर्शाया गया है। उसीप्रकार हम भी सभी सुरक्षाकर्मियों के जाने को प्रधानमंत्री का जाना कहकर व्यवहार कथन ही करते हैं।

व्यवहारनय की पुष्टि में दिए गए उक्त उदाहरण को 48वीं गाथा में आचार्यदेव सिद्धांत पर घटाकर समझा रहे हैं। ●

आत्मस्थिरता का सहज प्रयत्न

जिसको जो चीज चाहिए, उसके तत्सम्बन्धित विचार चलते हैं। यह बिल्कुल स्वाभाविक है। अगर सहजता से नहीं चलते तो अनुमान कर लेना चाहिए कि उसे अभी तक उसकी जरूरत नहीं लगी। उसे अभी भी कुछ दूसरा चाहिए। तब उसको अंतर मंथन करना चाहिए कि दूसरा क्या चाहिए? जिसका उसे लक्ष्य है, उसमें कौनसा सुख है? जिस चीज को उसने सुख प्राप्ति का कारण मान रखा है, उसकी प्राप्ति के बाद भी सुख प्राप्ति की चाहत क्यों बनी रहती है? यह चिंतन–मनन का विषय होना चाहिए?

अगर अस्ति से विषय पकड़ में ना आवे तो नास्ति से विचार करना चाहिए। ऐसा नहीं करेंगे तो जिस मान्यता में खड़े हैं, उसमें ढीलापन नहीं आएगा। इसके बिना आत्मा की बात ऊपर–ऊपर से सुने–पढ़े तो कुछ काम आने वाला नहीं है। ज्ञान और राग भिन्न है – ऐसे भेद ज्ञान की प्रक्रिया चलना चाहिए। यही आत्मस्थिरता की विधि है। इस विधि से आगे बढ़ने से आत्मा में स्थिरता होती है। अतः अपना हित समझकर आत्मा में सहज प्रयत्न चलना चाहिए।

गाथा 48

एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाणं।

जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेक्को णिच्छिदो जीवो।।48।।

पदविच्छेद :- एम्+एव, अज्झवसाण+आदि, अण्ण-भावाणं, तत्थ-इक्को।

शब्दार्थ :- एमेव = इसीप्रकार; अज्झवसाणादि = रागादि अध्यवसानादि; अण्णभावाणं = अन्य भावों को; जीवोत्ति = जीव इसप्रकार; सुत्ते = शास्त्रों में; णिच्छिदो = निश्चयनय से (विचार किया जाए तो); इक्को = एक ही है।

संदर्भ :- इस गाथा में व्यवहार कथन व निश्चय कथन दोनों को एक साथ बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि-

अर्थ :- शास्त्रों में व्यवहारनय से ही अध्यवसानादि भावों को जीव कहा गया है। निश्चयनय से विचार किया जाए तो उसमें जीव तो एक ही है।

व्याख्या :- 47वीं गाथा में जो उदाहरण दिया था उसी को सिद्धांत पर घटाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि- जिसप्रकार उदाहरण में राजा एक है, उसीप्रकार आत्मा एक ही है। पाँच योजन में फैला हुआ राजा है- ऐसा कहना, यह तो सेना में राजा कहने का व्यवहार है। उसीप्रकार राग समूह में आत्मा व्याप्त है- ऐसा कहना भी पर्याय में आत्मा कहने का व्यवहार है। वास्तव में तो पर्याय में आत्मा व्याप्त नहीं होगा; अतः निश्चय से अध्यवसानादि भाव जीव नहीं है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि 43 से 48 तक की इन 6 गाथाओं में पर को आत्मा मानने वाले अज्ञानी को समझाते हुए ज्ञानी आचार्य करुणा पूर्वक कह रहे हैं कि- हे भाई! जो तुम पर को ही आत्मा मान

रहे हो, तो वह तुम्हारी मान्यता सही नहीं है, मिथ्या है। देखो भाई! जैसे पर पुरुष के निमित्त से उत्पन्न संतान गर्भ काल में, उत्पत्ति काल में एवं भविष्य के संपूर्ण जीवन में भी अपमानकारक व दु:खदायी होती है; वैसे ही पुद्‌गल के निमित्त से उत्पन्न अध्यवसानादि भाव पुद्‌गल स्वरूप हैं और उनका उदय भी दु:खरूप है। दु:खरूप भाव आत्मा के स्वभाव भाव नहीं हो सकते, क्योंकि स्वभाव कभी दु:खरूप नहीं होता ।

अध्यवसानादि भाव पुद्‌गलमय होने से अचेतन हैं, जड़ हैं और जीव चेतन हैं; अतः अचेतन अध्यवसानादि भावों को चेतन जीव मानना उचित नहीं है।

यद्यपि इन अध्यवसानादि भावों को व्यवहार से जीव कहा जाता है, पर यह जीव का निश्चय स्वरूप नहीं।

अब प्रश्न उठता है यदि ये निश्चय से जीव का स्वरूप नहीं है, तो जीव का वास्तविक स्वरूप क्या है?

इसी शंका का समाधान 49वीं गाथा में किया जा रहा है। ●

प्रश्न : 'अन्तर्मुख होना' से क्या तात्पर्य है? इसके पर्यायवाची नाम भी बताइए।

उत्तर : अन्तर = अपनी आत्मा में जाकर, अपने अंतर में जाकर अर्थात् स्वसन्मुख होकर ।

मुख = मुहँ करना अर्थात् अपना उपयोग अपनी ओर करना।

उपयोग अपनी ओर करना अर्थात् हमारा ज्ञान जो पर की ओर उन्मुख हो रहा है, वह स्व की ओर उन्मुख हो अर्थात् ज्ञान द्वारा ज्ञान को ही जानना, विषय बनाना। इसे ही ज्ञान का तन्मय होना कहते हैं। यही ज्ञान का अंतर्मुख होना है। यही ज्ञान की अनुभूति है, आत्मानुभूति है अतः यही धर्म है।

गाथा 49

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।49।।

पदविच्छेदः– अरसम्+अरूवम्+अगंधं, चेदनागुणम्+असद्दं, जीवम्+अणिद्दिट्ठसंठाणं।

शब्दार्थ :– अरसं= रस रहित; अरुवं= रूप रहित; अगन्धं=गन्ध रहित; अव्वत्तं= व्यक्तता रहित; चेदणागुणम्= चेतना गुण वाला; असद्दं= शब्दरहित; जाण= जानो; अलिंगग्गहण= अलिंगग्रहण; जीवम्= जीव को; अणिद्दिट्ठसंठाणं= अर्निदिष्ट संस्थान।

संदर्भ :– निश्चय से जीव का स्वरूप बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि–

अर्थ :– हे भव्य! तुम जीव को अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, अशब्द, अनिर्दिष्टसंस्थान, अलिंगग्रहण और चेतना गुणवाला जानो।

व्याख्या :– आत्मा का स्वरूप प्रतिपादन करने वाली यह गाथा समयसार की महत्वपूर्ण गाथा है। इस गाथा में 8 विशेषणों के माध्यम से 'शुद्धात्मा' का स्वरूप समझाया गया है।

यहाँ कोई पूँछ सकता है कि जब कोई भी अज्ञानी अपने को अरस, अरूप, अगंध आदि नहीं मानता है; फिर आचार्यदेव ने आत्मा के स्वरूप को समझाने के लिए आरंभ में यह 7 विशेषण क्यों दिए?

भाई साहब! आपकी शंका उचित है। यद्यपि कोई भी अज्ञानी अपने आपको अरस, अरूप, अगंध आदि नहीं मानता है; तथापि वह शरीर को अपना मानता है और रस, रूप, गंध आदि गुण पुद्गल रूप शरीर के हैं। चूँकि जीव अनादि काल से ही पुद्गलमय शरीर में ही अपनापन करता आ रहा है; अतः सर्वप्रथम पुद्गलमय शरीर से भिन्नता बतलाने के लिए

ज्ञानी आचार्यदेव अज्ञानी शिष्य को समझाते हुए यह कह रहे हैं कि – हे भव्य! तुम जिस शरीर को आत्मा मान रहे हो, जीव मान रहे हो; वह तो रस, रूप, गंधादि गुणों से युक्त है और जीव उससे अत्यंत भिन्न **अरस, अरूप, अगंध** है। दूसरी बात अज्ञानी दिखाई न देने के कारण ही आत्मा की सत्ता से इंकार करता है, अत: आचार्यदेव कह रहे हैं कि उसमें रूप नहीं है, वह दिखाई नहीं देगा, वह अनुभूतिगम्य है।

जीव पुद्गल की पर्याय से भी भिन्न होने से **अशब्द** है। पुद्गल के आकार के आधार पर उसका आकार कहा नहीं जा सकता, अतः **अनिर्दिष्टसंस्थान** है।

आत्मा क्षणिक व्यक्ति मात्र नहीं है, अतः अव्यक्त है। यहाँ एक समय की मात्र वर्तमान पर्याय की बात की गई है। एक समय की पर्याय व्यक्त है, वह क्षणिक है। जबकि आत्मा शुद्ध चेतन त्रिकाल रहता है, तो वह क्षणिक व्यक्तिमात्र पर्याय के बराबर कैसे हो सकता है? अतः आत्मा **अव्यक्त** है।

आत्मा स्वसंवेदन ज्ञान के बल से प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय बनता है, अतः उसे अकेले अनुमान का विषय नहीं माना जा सकता; इसलिए **अलिंगग्रहण** है।

उक्त जो अरस, अरूपादि भाव हैं; वे सभी पौद्गलिक हैं, पुद्गलजन्य हैं, पुद्गलमय हैं, पुद्गल ही हैं। जिनमें रस, रूप, गंध और स्पर्श– ये चार पुद्गल के गुण हैं और शब्द पुद्गल की पर्याय है। ये पाँचों पाँच इंद्रियों के विषय हैं। इन पाँचों के निषेध रूप अरस, अरूप, अगंध, अस्पर्श, अव्यक्त और अशब्द विशेषण के माध्यम से आचार्यदेव कहना चाहते हैं कि निश्चय जीव इंद्रियों का विषय नहीं है, अतः इंद्रियों के माध्यम से नहीं जाना जाता है। निश्चय जीव पुद्गलद्रव्य से भिन्न है। पुद्गल के गुणों से भी भिन्न हैं और वह पुद्गल से बनी इंद्रियों का स्वामी भी नहीं है।

इसप्रकार तुम जिसे अभी तक आत्मा मान रहे हो, वह वास्तविक आत्मा नहीं। आत्मा तो चेतना गुण वाला है। यही आत्मा का असाधारण स्वभाव होने से अन्य सभी परद्रव्यों से पृथक् करने वाला है। आत्मा की पहचान का चिन्ह है। इसे ही चित्शक्ति मात्र, ज्ञान मात्र भी कहा जाता है।

लौकिक में हम देखते हैं कि जिसप्रकार बच्चा बार-बार अपनी माँ के पास आ जाता है और उनकी निगाहों के दायरे से बाहर नहीं जाता; उसीप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द भी बार-बार 'आत्मा' के पास आ जाते हैं, उसके दायरे से बाहर नहीं जाते। वह नहीं चाहते कि पाठक आत्मा के अतिरिक्त 'पर' में अधिक उलझे।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि पर से भिन्न आत्मा का स्वरूप ज्ञानी गुरु के द्वारा समझाए जाने पर कुछ जीवों को 'स्व' में आत्मबुद्धि हो जाती है, 'पर' में आत्मबुद्धि नहीं रहती है। स्वोन्मुख दृष्टि होने पर ज्ञान आनंद सहित अनुभूति में आता है। **ज्ञान का आनंद सहित वेदन (अनुभूति) ही, आत्मानुभूति** है।

इसप्रकार कुछ जीवों के लिए यह गाथा भी पड़ाव सिद्ध हो सकती है। यह समयसार का **दसवां पड़ाव** है।

अन्य कुछ अज्ञानी जनों के मन में अनेकों सवाल अभी भी उठते रहते हैं। जिनके समाधान 50वीं से 68वीं तक की 19 गाथाओं में आचार्यदेव कर रहे हैं। ●

प्रश्न : आत्मा संबंधी विकल्प स्वज्ञेय है या परज्ञेय ? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : मैं शुद्ध हूँ, एक हूँ, अखंड हूँ आदि आत्मा संबंधी विकल्प आकुलतामय होने से परज्ञेय है। आकुलतामय होने से ये विकल्प कषाय में समाविष्ट होते हैं। यह बाह्य हैं, व्यक्त हैं और अखंड, शुद्ध, ज्ञायकरूप जीव स्वज्ञेय है, जो कि अंतरंग है, अव्यक्त है।

-प्रवचनरत्नाकर भाग-2, गाथा-49, पृष्ठ-234 के आधार पर

गाथा 50

जीवस्स णत्थि वण्णो ण वि गंधो ण वि रसो ण वि य फासो।
ण वि रूवं ण सरीरं ण वि संठाणं ण संहणणं ।।50।।

शब्दार्थ :– जीवस्स= जीव के; णत्थि= नहीं हैं; वण्णो= वर्ण; ण= नहीं हैं; वि=भी; गंधो=गंध; रसो= रस; य=और; फासो= स्पर्श रूवं= रूप; सरीरं= शरीर; संठाणं= संस्थान; संहणणं= संहनन।

संदर्भ – 'वर्णादि बहिरंग भाव जीव के स्वरूप नहीं हैं' – यह स्पष्ट करते हुए इस गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि–

अर्थ – जीव के वर्ण नहीं हैं, गंध भी नहीं हैं, रस और स्पर्श भी नहीं हैं, रूप भी नहीं है, शरीर भी नहीं है, संस्थान और संहऩन भी नहीं हैं; क्योंकि यह सभी पुद्‌गल द्रव्य के परिणाम हैं।

व्याख्या – 49वीं गाथा में अरस, अरूपी आदि जिन भावों की सामान्य चर्चा की गई है, उन्हीं बहिरंग वर्णादि भावों का इस गाथा में विशेष वर्णन किया गया है।

अज्ञानी जीव शरीर और इंद्रियों आदि को ही जीव मानता आ रहा है। उसकी इस मान्यता का तर्क पूर्वक खंडन करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि– पाँच प्रकार के वर्ण, दो प्रकार की गंध, पाँच प्रकार का रस, आठ प्रकार के स्पर्श, पाँच प्रकार के शरीर, छह प्रकार के संस्थान और छह प्रकार के संहनन आदि कुछ भी जीव नहीं है; क्योंकि यह सभी पुद्‌गल परिणाममय हैं।

यद्यपि रूप और वर्ण यह दोनों शब्द पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयुक्त होते हैं। पर यहाँ पाँच प्रकार के रंगों को वर्ण कहा गया है और वर्ण, रस, गंध और स्पर्श इन चारों के मिले हुए रूप को रूप कहा गया है।

आज तक अज्ञानी ने पुद्गल में विद्यमान रस को ही 'रस' माना है, उसी में रचा-बसा रहा है, सुख मानता रहा है; किंतु आत्मा में वैसा खट्टा-मीठा, चरपरा आदि रस नहीं है, उसमें तो अतीन्द्रिय आनंद के अनुभव का रस है। इसीप्रकार आत्मा आँखों से नजर नहीं आता, नाक से सूँघने में नहीं आता और हाथ से छूने में भी नहीं आता, अतः आत्मा में रूप, गंध, स्पर्श नहीं हैं।

रूप, रस, गंध, स्पर्श, पुद्गल के गुण हैं। शरीर पुद्गलद्रव्य है और संस्थान, संहनन आदि सभी पुद्गल के परिणाम हैं। अतः इस गाथा में जीव को इन आठ प्रकार के भावों से रहित कहा गया है।

काला, हरा, पीला, लाल और सफेद - ये पाँच प्रकार के **वर्ण** होते हैं ।

सुगंध और दुर्गंध- ये दो प्रकार की **गंध** होती है।

कड़वा, कषायला, चरपरा, खट्टा और मीठा - ये पाँच प्रकार के **रस** होते हैं।

चिकना, रूखा, ठंडा, गरम, हल्का, भारी, कोमल और कठोर - ये आठ प्रकार के **स्पर्श** होते हैं।

औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण - ये पाँच प्रकार के **शरीर** होते हैं।

त्रिकोण, चतुष्कोण और गोल आदि आकार को संस्थान कहते हैं। यह 6 प्रकार के होते हैं - समचतुरस्त्र, न्यग्रोधपरिमंडल, स्वाति, कुब्जक, वामन और हुंडक।

ऊपर, नीचे, मध्य में समान रूप से शरीर के अवयवों की रचना को **समचतुरस्त्र संस्थान** कहते हैं।

वट वृक्ष को न्यग्रोध कहते हैं। सब ओर का मंडल परिमंडल कहलाता

है। जो शरीर वट के वृक्ष की तरह नीचे सूक्ष्म और नाभि के ऊपर भारी, विशाल होता है, वह **न्यग्रोध परिमंडल** शरीर संस्थान कहलाता है।

बाम्बी (सर्प अथवा चीटियों के रहने का स्थान) और शाल्मली वृक्ष को स्वाति कहते हैं। जो शरीर इनके समान नाभि के नीचे विशाल और ऊपर सूक्ष्म या हीन होता है, उसे **स्वाति शरीर** संस्थान कहते हैं।

पीठ पर बहुत पुद्गलों का पिंड हो जाना (कुबड़ापन) **कुब्जक** संस्थान है। कुबड़े शरीर को कुब्ज कहते हैं।

बौने के शरीर को वामन कहते हैं। सभी अंग-उपांगों को छोटा बनाने में कारण **वामन** संस्थान है।

समानता रहित अनेक आकार वाले पाषाणों (पत्थरों) से भरी हुई मशक के समान सर्व ओर से विषम आकार को हुंड कहते हैं। इसके समान जो शरीर होता है, उसे **हुंडक शरीर** संस्थान कहते हैं।

संहनन अर्थात् हड्डियों की 'मजबूती'। जिसके उदय से अस्थियों का बंधन विशेष होता है, वह **संहनन नामकर्म** है। शरीर संहनन नामकर्म के 6 भेद हैं- वज्रवृषभनाराच संहनन, वज्रनाराच संहनन, नाराच संहनन, अर्धनाराच संहनन, कीलक संहनन और असंप्राप्त सृपाटिका संहनन।

हड्डियों के संचय को संहनन कहते हैं और वेष्टन को वृषभ कहते हैं और जो वज्र के समान नाराच है, वह **वज्रनाराच** कहलाता है।

ये दोनों अर्थात् वज्रवृषभ और वज्रनाराच जिस वज्र संहनन में होते हैं, वह **वज्रवृषभनाराच** संहनन है।

जिस कर्म के उदय से वज्रमय हड्डियाँ, वज्रमय वेष्टन से वेष्टित और वज्रमयनाराच से कीलित होती हैं, वह **वज्रवृषभनाराच शरीर** संहनन है। इस संहनन के बिना केवलज्ञान नहीं होता।

वज्र वेष्टन से रहित शरीर **वज्रनाराच संहनन** होता है और जो शरीर वज्र विशेषण से रहित नाराच कीलें और हड्डियों की संधियाँ होती है, वह **नाराचशरीर संहनन** नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय से हड्डियों की सन्धियाँ नाराच से आधी बिंधी हुई होती हैं, वह **अर्धनाराच शरीर** संहनन नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय से वज्र रहित हड्डियाँ और कीलें होती हैं, वह **कीलक शरीर** संहनन नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय से सर्प की हड्डियों के समान परस्पर में असंप्राप्त और शिराबद्ध हड्डियाँ होती हैं, वह **असंप्राप्त सृपाटिका** शरीर संहनन नामकर्म है।

आरंभ के तीन उत्तम संहनन हैं, ध्यान इन्हीं संहनन में संभव है; क्योंकि उत्तम संहनन वाला ही अधिक समय तक ध्यान धारण कर सकता है, अन्य संहनन वाला नहीं।

पहले संहनन वालों को ही शुक्ल ध्यान होता है, क्योंकि इस संहनन वाले का ही चित्त ऐसा होता है कि शरीर को छेदने-भेदने, मारने और जलाने पर भी अपने आत्मा को अत्यंत भिन्न देखता हुआ स्वरूप से चलायमान नहीं होता, न वर्षाकाल आदि के दु:खों से कम्पायमान होता है। उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी में जो ध्यान होता है, वह उत्तम संहनन में ही होता है; किंतु अपूर्वकरण गुणस्थान से नीचे के गुणस्थान में होने वाला धर्मध्यान अंतिम 3 संहनन में भी होता है। कर्मभूमि की स्त्रियों को अंत के तीन संहनन का ही उदय होता है; अत: उन्हें शुक्लध्यान नहीं होता और शुक्लध्यान के बिना मोक्ष नहीं होता।

यहाँ विशेष बात ध्यान देने की यह है कि इस गाथा में जिन विशेषणों को नकारात्मक (Negative) रूप में बताया है, उन्हीं विशेषणों को 49वीं गाथा में सकारात्मक (Positive) रूप में बताया गया है।

यह अंतर इसलिए आया है कि 49वीं गाथा में आचार्यदेव आत्मा का स्वरूप बता रहे हैं – आत्मा कैसा है? अतः वहाँ कहा गया है 'आत्मा अरस है, अरूप है, अगंध है, अस्पर्श है, आदि और इस गाथा में इन भावों के जीव नहीं होने के कारण को बताया जा रहा है कि रस, रूप, गंध आदि भाव जीव के नहीं हैं; क्योंकि ये भाव पुद्गल के परिणाम हैं।'

'यह सभी पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं'– 55वीं गाथा के अंत में आने वाला यह वाक्य अंतदीपक है। इसका अर्थ 50वीं गाथा से 55वीं गाथा तक की सभी गाथाओं में प्रयुक्त किया जाएगा; क्योंकि इसी एक हेतु से 29 प्रकार के सभी भावों को 'जीव नहीं है' सिद्ध किया गया है।

इसके पश्चात् 51वीं गाथा में रागादि विभाव भावों को पौद्गलिक कहा जा रहा है। ●

सम्यग्दृष्टि

जैसी वस्तु पूर्ण सत्य है, उसकी वैसी ही दृष्टि का नाम सत्दृष्टि या सम्यग्दृष्टि है। सत् अर्थात् शाश्वत ज्ञान व आनंद स्वरूप परिपूर्ण वस्तु। ऐसे सत् की जिसको दृष्टि हुई, वह सम्यग्दृष्टि जीव है।

सम्यग्दृष्टि जीव जब ज्ञान को ज्ञानरूप व राग को रागरूप से यथार्थ जान लेता है, तब उसका जो असली स्वरूप है, वे अपने उसी स्वरूप से भिन्न–भिन्न होकर रह जाते हैं। ज्ञान ज्ञानरूप से रहता है व राग रागरूप से रहता है। अपने–अपने स्वरूप में दोनों भिन्न रहते हैं।

मिथ्यादृष्टि उक्त भेदों को नहीं जानते, सम्यग्दृष्टि को ही स्वभाव व राग की भिन्नता का ज्ञान व श्रद्धान होता है।

प्रवचनरत्नाकर भाग–2, कलश–33 के भावार्थ के आधार से, पृ–162

गाथा 51

जीवस्स णत्थि रागो ण वि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ।।51।।

शब्दार्थ :– जीवस्स= जीव के; णत्थि= नहीं हैं; रागो= राग; दोसो=द्वेष; ण = नहीं हैं; एव = ही; विज्जदे= विद्यमान; मोहो= मोह; पच्चया= प्रत्यय; णो= नहीं हैं; कम्मं= कर्म; नोकम्मं= नोकर्म।

संदर्भ :– 'रागादि अंतरंग भाव जीव के स्वरूप नहीं है'– यह स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि–

अर्थ :– जीव के राग नहीं है, द्वेष नहीं हैं और मोह भी विद्यमान नहीं है; प्रत्यय नहीं है, कर्म भी नहीं है, और नोकर्म भी नहीं है; क्योंकि यह सभी पुद्‌गलद्रव्य के परिणाम हैं।

व्याख्या :– इस गाथा में राग, द्वेष, मोह, आदि उन भावों का जीव में निषेध किया जा रहा है, जो जीव में ही होते देखे जाते हैं; अजीव में नहीं।

आचार्यदेव तर्क देते हुए कह रहे हैं कि पुद्‌गल के निमित्त से होने वाले भाव पुद्‌गलमय ही हैं, अतः वे जीव का स्वरूप नहीं हो सकते।

इस गाथा में दृष्टि की अपेक्षा से कथन किया गया है। इसलिए इसकी टीका में आचार्य अमृतचंद्र कहते हैं कि चैतन्य स्वरूप आत्मा का अनुभव करने पर राग–द्वेष आदि भाव स्वपने अनुभव में नहीं आते, अलग ही रह जाते हैं; इसलिए वे निश्चय से जीव के नहीं हैं।

परद्रव्यों के प्रति प्रीति रूप भाव को **राग** कहते हैं। दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, महाव्रत, आदि शुभराग के सभी परिणाम भी पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय हैं।

परद्रव्यों के प्रति अप्रीति रूप भाव को **द्वेष** कहते हैं।

तत्त्वों की विपरीत जानकारी को **मोह** कहते हैं।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग– यह **पाँच प्रत्यय** कहे जाते हैं। यह आस्रव के कारण होते हैं।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय– ये **आठ कर्म** होते हैं।

शरीर और संपूर्ण बाह्य पदार्थ **नोकर्म** कहे जाते हैं। आहार, शरीर, इंद्रिय, भाषा, मन और श्वासोच्छ्वास– ये छह पर्याप्तियाँ और तीन शरीर के योग्य जो पुद्गल स्कंध हैं, वे **नोकर्म** हैं।

उक्त सभी छह प्रकार के भावों में भी अज्ञानी को जीव होने का भ्रम हो जाता है। अतः उनके भ्रम के निवारण के लिए आचार्यदेव कहते हैं कि यह सभी भाव पुद्गल परिणाममय होने से जीव नहीं हैं।

इसके पश्चात् 52वीं गाथा में कर्म संबन्धित सभी भावों को भी 'जीव नहीं है' सिद्ध किया जा रहा है। ●

बीमारी से छूटने का उपाय कौन करता है? जिसे बीमारी में दु:ख लगता है। इसीप्रकार जिसे राग में दु:ख लगता है, वही राग से छूटने के उपाय में तत्पर होता है। राग से छूटने का उपाय स्वरूप प्राप्ति है। स्वरूप प्राप्ति की भावना ही हमें रास्ता दिखाएगी, मार्ग बताएगी। भावना बिना मार्ग समझेगा नहीं। भावना होगी तो मार्ग सूझेगा ही। भावना की तीव्रता तो होनी चाहिए। जो पाना है, वह प्राप्त ना हो तो उसे ना पाने का दु:ख लगना चाहिए। जब यह दु:ख तीव्रता धारण करता है, तो पाने की लालसा बढ़ती जाती है। यह तीव्रता ही मंतव्य को प्राप्त कराती है।

गाथा 52

जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभागठाणाणि।।52।।

शब्दार्थ :जीवस्स=जीव के; णत्थि= नहीं हैं; वग्गो=वर्ग; वग्गणा= वर्गणा; णेव= नहीं हैं; फड्ढया= स्पर्धक; केई= कोई; अज्झप्पट्ठाणा= अध्यात्मस्थान; अणुभागठाणाणि=अनुभागस्थान।

संदर्भ :– कर्म की तीव्रता–मंदता आदि से संबंधित सभी भाव जीव के नहीं हैं – इसे समझाते हुए इस गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि–

अर्थ :– जीव के वर्ग नहीं है, वर्गणा नहीं है, कोई स्पर्धक नहीं है, अध्यात्मस्थान और अनुभागस्थान भी नहीं है; क्योंकि यह सभी पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं।

व्याख्या :– इस गाथा में स्वभाव की दृष्टि कराने का मूल प्रयोजन है। अतः इस गाथा में कहा है कि – जीव के विकार नहीं है; क्योंकि स्वानुभूति करने पर विकार का परिणाम व उसका निमित्त कर्म – दोनों भिन्न रह जाते हैं। इस कारण आठों ही कर्म जीव के नहीं है।

कर्म के रस की शक्तियों के समूह को **वर्ग** कहते हैं। वर्गों के समूह को **वर्गणा** कहते हैं और वर्गणाओं के समूह को ही **स्पर्धक** कहते हैं। यहाँ कर्मशक्ति की विशेष वृद्धि को ही स्पर्धक कहा गया है।

कर्म के अनुभाग के निमित्त से आत्मा में जो परिणाम होते हैं; वे **अनुभागस्थान** हैं, परंतु वे जीव के नहीं हैं। अकेले जड़ के अनुभागस्थानों की यह बात नहीं है, अपितु जीव की पर्याय में कर्म के रस के निमित्त से जो भाव होते हैं, वे भी अनुभागस्थान हैं। वे भाव हैं तो अपने पर्यायों में ही, किन्तु उन्हें भी यहाँ पुद्गल द्रव्य के परिणाममय

कहा है। स्वभाव की दृष्टि से देखने पर स्वभाव, विकार के अनुभागरूप परिणमन करे - ऐसा कभी होता ही नहीं है; क्योंकि आत्मा में ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो विकार रूप से परिणमन करे तथा निज आत्म द्रव्य का अनुभव करने पर, वे अनुभागस्थान अनुभूति से भिन्न रह जाते हैं; इस कारण सभी अनुभागस्थान जीव के नहीं हैं।

अध्यात्मस्थान का अर्थ यहाँ आत्मा के स्थान नहीं है। स्व-पर की एकता बुद्धि के अध्यास (विपरीत निर्णय) को यहाँ **अध्यात्मस्थान** कहा है। स्व की एकता के परिणाम से स्व-पर की एकता के परिणाम भिन्न हैं। जब स्व में एकता हो जाएगी, तब स्व-पर में एकता कैसे सम्भव है? अतः स्व-पर की एकता रूप अध्यात्मस्थान से जीव भिन्न है।

इसप्रकार इस गाथा में कर्म से संबंधित सभी भावों की जीव से भिन्नता सिद्ध की गई है।

इसके पश्चात् 53वीं गाथा में वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले योग आदि की जीव से भिन्नता सिद्ध की जाएगी। ●

प्रश्न - जैसा कर्म का उदय आता है, वैसा भाव जीव में होता ही है तथा जब कर्म निमित्तरूप बनकर उदय में आता है, तब उससे जीव को विकार करना ही पड़ता है - क्या यह कथन सही है?

उत्तर - नहीं, यह कथन सही नहीं है; क्योंकि जीव जब स्वयं कर्म के उदय का अनुसरण करके परिणमता है, तब वह विकारी होता है तथा भेदज्ञान के बल से दूर से ही पीछे हटकर, उदय का अनुसरण नहीं करे तो वह विकारी नहीं होता। उदय जड़कर्म की पर्याय है व विकार आत्मा की पर्याय है। जड़ की पर्याय व आत्मा की पर्याय के बीच अत्यंताभाव है। इसकारण न उदय के अनुसार विकार होता है और न करना ही पड़ता है।

प्रवचनरत्नाकर, भाग-2, गाथा-32 के प्रवचन के आधार से, पृ.-98

गाथा 53

जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई।।53।।

शब्दार्थ :– जीवस्स= जीव के; णत्थि= नहीं हैं; केई= कोई; जोयट्ठाणा= योगस्थान; बंधठाणा=बंधस्थान; वा= अथवा; उदयट्ठाणा= उदयस्थान; मग्गणट्ठाणया= मार्गणास्थान।

संदर्भ :– इस गाथा में विभिन्न रूपों में दिखाई देने वाले जीव को उन रूपों से भिन्न बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि–

अर्थ :– जीव के कोई योगस्थान नहीं है, बंधस्थान नहीं है, उदयस्थान नहीं है और कोई मार्गणास्थान भी नहीं है; क्योंकि यह सभी पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं।

व्याख्या :– इस गाथा में जीव के स्वभाव का वर्णन है, और उस त्रिकाली स्वभाव का परिणमन विकारी नहीं हो सकता, इसलिए योग के कंपन को पुद्गल परिणाममय बताकर स्वभाव की दृष्टि कराई है।

योगस्थान अर्थात् कंपन, यह जीव के योग गुण की विकारी पर्याय है। योग के कंपन का विकारी परिणाम यद्यपि कंपन है तो जीव की पर्याय; तथापि स्वभाव से उत्पन्न नहीं होता। इस कारण से स्वभाव की दृष्टि कराने के लिए, पर्याय में जो परलक्ष्य से विकार होता है, उसको पर में डालकर पुद्गल का परिणाम कहा है। यह कर्म ग्रहण में निमित्त है।

संक्षेप में कहें तो यहाँ त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव की – शुद्ध उपादान की दृष्टि कराने का प्रयोजन है; अतः यहाँ अशुद्ध परिणमन को पुद्गल के परिणाममय कहा है।

भिन्न–भिन्न प्रकृतियों के परिणाम रूप जो **बंधस्थान** हैं, वे जीव

में नहीं है; क्योंकि वे पुद्गल द्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं।

सुख–दुःख के फल के अनुभवरूप अपने फल को उत्पन्न करने में समर्थ कर्म अवस्था रूप **उदयस्थान** भी जीव के नहीं हैं। यह पर्याय में हुये विकारी भावों की बात है, कर्मों की नहीं। जीव की पर्याय में 4 गति, 4 कषायें आदि के जितने उदय के प्रकार हैं, वे सब परमस्वभाव भावरूप आत्मा के नहीं है, इसलिए उन सब उदयस्थानों को पुद्गल परिणाममय कहा है।

दूसरी बात वे उदयस्थान जीव में से निकल जाते हैं, इसलिए भी उन्हें पुद्गलद्रव्य के परिणाममय कहा है।

तीसरी बात शुद्ध चैतन्य स्वभाव की दृष्टि होने पर विकार का परिणाम नहीं होता, इस कारण भी स्वभाव की अपेक्षा उदयस्थान को पुद्गल का परिणाम कहा है।

मार्गणास्थान भी जीव के नहीं हैं; क्योंकि ये सभी भी पुद्गल के परिणाम हैं। मार्गणा 14 होती हैं। जो निम्न हैं –

गति, इंद्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार।

1. गति – यहाँ गति से तात्पर्य मनुष्यादि चारों गतियों से न होकर चारों गतियों से संबंधित विशेष भावों (उदय भावों) से है। यद्यपि ये परिणाम जीव के हैं, किंतु वे विकारी परिणाम होने से त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि होने पर छूट जाते हैं; इसलिए वे परिणाम पुद्गल के हैं। इसप्रकार यहाँ गति को पुद्गल का परिणाम कहा है।

2. इन्द्रियाँ – इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं– द्रव्येन्द्रियाँ और भावेन्द्रियाँ ।

द्रव्येन्द्रियाँ तो स्पष्ट जड़ पुद्गल रूप हैं ही; किंतु द्रव्यदृष्टि से

देखने पर भावेन्द्रियाँ त्रिकाली अतीन्द्रिय स्वभाव में नहीं है, क्योंकि वे निकल जाती हैं, सदैव नहीं रहती हैं। इसलिए भावेन्द्रियों को पुद्गल परिणाम कहा है; परंतु यदि पर्याय अपेक्षा विचार किया जाए तो भावेन्द्रियाँ जीव के ही परिणाम हैं।

3. काय – काय अर्थात् शरीर। बाह्य शरीर तो जीव का है ही नहीं; किंतु अंदर की योग्यता भी जीव की नहीं है; क्योंकि वह पुद्गल के परिणाममय है।

4. योग – योग अर्थात् मन, वचन, काय। योग के निमित्त से अंदर आत्मा में जो योग की क्रिया या कंपन होता है, वह जीव का नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय है।

5. वेद – वेद तीन प्रकार के होते हैं– स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद।

उक्त तीनों पुरुष आदि वेद के परिणाम जीव के नहीं हैं, क्योंकि वे पुद्गल के परिणाम हैं।

ये तीनों प्रकार के वेद के परिणाम, उनके जन्मक्षण में होते हैं, इसकारण वे स्वयं से होते हैं। उन्हें जिसप्रकार पर की अपेक्षा नहीं है; उसीप्रकार द्रव्य-गुण की भी अपेक्षा नहीं है। दूसरी बात जो वासना उत्पन्न होती है, वह है तो जीव की पर्याय, परंतु त्रिकाली द्रव्य स्वभाव में वह नहीं है तथा स्वभाव दृष्टि करने पर वह परिणाम जीव में से निकल जाता है, इस कारण उस वासना के परिणाम को यहाँ पुद्गल का परिणाम कहा है।

संक्षेप में कहें तो तीनों वेद के भावरूप जो विकारी वासना होती है, उसका अशुद्ध उपादान तो स्वयं ही है तथा जड़ वेद का उदय उसमें निमित्त है। यहाँ उपादान कारण के साथ ही औपचारिक कारण जो निमित्त है, उसको मिलाकर प्रमाण ज्ञान कराया है, परंतु उसके कारण

'पर' निमित्त से विकार की वासना होती है – ऐसा नहीं है; क्योंकि अपनी पर्याय में विकार अपने से ही होता है, वह 'पर कारकों' की अपेक्षा नहीं रखता।

यहाँ विशेष बात ध्यान रखने की यह है कि विकार रूप होना पर्याय का स्वभाव है। जो पर्याय होती है, वह स्वयं से होती है– इसलिए उसे स्वभाव कहा है। इस अपेक्षा से देखें तो वेद का विकारी परिणाम स्वयं से होता है, वह वेद कर्म के उदय से आत्मा में हुआ है – ऐसा नहीं है। उस काल का वह स्वयं सत् है, उसे उसमें त्रिकाली सत् की भी अपेक्षा नहीं है। इसप्रकार विकार पर्याय अपनी अपेक्षा से वर्तमान सत् होने पर भी, उसको अपेक्षा से पुद्गल परिणाम कहा है।

6. कषाय – सभी कषायें पुद्गल के परिणाममय हैं। आत्मा तो अकषाय स्वरूप है। उसमें कषाय के परिणाम नहीं है। जो कषाय के परिणाम जीव की पर्याय में हुए हैं; वे निश्चय से स्वयं से हुए हैं, 'पर कारकों' से नहीं। स्वभाव की दृष्टि से देखने पर वे कषाय के परिणाम स्वभावभूत नहीं है और पर्याय में से निकल जाते हैं; इसलिए उन्हें पुद्गल के परिणाम कहा है।

7. ज्ञान – पाँच ज्ञान - (मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञान) और तीन अज्ञान (कुमति, कुश्रुत और कुअवधि) ये सब ज्ञान के भेद, अभेद चैतन्य स्वरूप आत्मा में नहीं है; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय हैं।

संक्षेप में कहें तो त्रिकाल, शुद्ध, एक ज्ञायक भावस्वरूप आत्मा में ज्ञान के भेद का भी अभाव है। यही भेद के अभाव रूप त्रिकाली शुद्ध जीव दृष्टि का विषय है। इसी अभेद दृष्टि से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है। ज्ञान में भेद डालना, वह पुद्गल का परिणाम है; क्योंकि ज्ञान के भेदों का लक्ष्य करने पर राग ही उत्पन्न होता है और राग पुद्गलद्रव्य का परिणाम है।

8. संयम – संयम (चारित्र) के भेद भी जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गल परिणाम हैं। त्रिकाली चारित्र गुण के पर्यायरूप भेद विकल्प के कारण हैं, अतः भेद को पुद्गल का परिणाम कहा है।

9. दर्शन – चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधि दर्शन और केवलदर्शन – ऐसे दर्शन के जो भेद स्थान हैं, वे त्रिकाल शुद्ध जीवद्रव्य में नहीं है; क्योंकि भेद के भाव शुद्ध जीववस्तु में नहीं होते।

10. लेश्या – कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल – ऐसे जो लेश्याओं के भेद हैं, वे शुद्ध जीववस्तु में नहीं है।

11. भव्य – भव्य व अभव्य – ऐसे भेद भी जीव के नहीं हैं; क्योंकि भव्य व अभव्य तो पर्याय में हैं। चैतन्य स्वभाव जीवद्रव्य में ये भव्य–अभव्यपने के भेद नहीं हैं। वस्तुपने, द्रव्यपने शुद्ध होने से प्रत्येक जीव समान है।

12. सम्यक्त्व – सम्यग्दर्शन का विषय जो अखंड, ध्रुव आत्मद्रव्य है, उसमें सम्यग्दर्शन के भेद नहीं है। यहाँ भेद का लक्ष्य छुड़ाने के लिए उपशम, क्षय, क्षयोपशम रूप समकित के भेदों का ध्रुव स्वभाव में निषेध किया है।

13. संज्ञा – संज्ञी–असंज्ञीपना भी वस्तु में नहीं है। आत्मा संज्ञी–असंज्ञी नहीं; वह तो शुद्ध चैतन्य स्वरूप है।

14. आहार – आहार–अनाहारपना भी आत्मा में नहीं है; क्योंकि आहार लेने का विकल्प या अनाहारीपने का विकल्प – ये दोनों पर्यायें हैं। अतः यह वस्तु में नहीं हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि 14 मार्गणास्थान भेद रूप हैं, पुद्गल के परिणाममय हैं; अतः वह जीव के नहीं हैं।

इसके पश्चात् 54वीं गाथा में अन्य चार भावों से जीव की भिन्नता बताई जा रही है। ●

गाथा 54

णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा।।54।।

शब्दार्थ :– ठिदिबंधट्ठाणा= स्थितिबंधस्थान; संकिलेसठाणा= संक्लेशस्थान; विसोहिट्ठाणा= विशुद्धिस्थान; संजमलद्धिठाणा= संयमलब्धिस्थान।

संदर्भ :– 'जीव में उत्पन्न होने वाले भाव भी शुद्धनिश्चयनय से जीव के नहीं हैं।' – यह बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि–

अर्थ :– जीव के स्थितिबन्धस्थान नहीं हैं, संक्लेशस्थान भी नहीं हैं, विशुद्धिस्थान भी नहीं हैं और संयमलब्धिस्थान भी नहीं हैं; क्योंकि ये सभी पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं।

व्याख्या :– इस गाथा में स्थितिबंधस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान और संयमलब्धिस्थान से जीव की भिन्नता बताई जा रही है।

स्थितिबंधस्थान – भिन्न–भिन्न प्रकृतियों का निश्चित काल तक जीव के साथ रहना स्थितिबंध है।

कर्मों में जो प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग बंध होते हैं, वे अपने उपादान में– जड़ में हैं और जीव की पर्याय में कर्म के अनुसार जो योग्यता है, वह जीव में है। इसमें कर्म निमित्त मात्र हैं। लेकिन यहाँ कह रहे हैं कि ये सभी स्थितिबंध के स्थान जीव के नहीं हैं, क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जीव में कर्म की स्थितिबंध के भेद तो है ही नहीं; किंतु जो जीव की पर्यायगत योग्यता है, वह भी जीव की नहीं है।

संक्लेशस्थान – कषायों के विपाक की अतिशयता को संक्लेशस्थान कहते हैं। संक्लेशस्थानों में असंख्य प्रकार हैं, वे सभी जीव के नहीं हैं, क्योंकि वे पुद्‌गल के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न है।

यहाँ जड़ विपाक की बात नहीं है, परंतु जीव की पर्याय में हुए कषायों के विपाक की बात है। जो कर्मों का विपाक है, उसी प्रमाण में आत्मा में भी कषायों का विपाक है। कषायों का संक्लेश परिणाम स्वतंत्र है। कर्म का उदय तीव्र अनुभाग वाला है, इसलिए संक्लेश परिणाम हुए हैं – ऐसा नहीं है। उस समय संक्लेश परिणाम कषायों के विपाक रूप हैं, वह स्वयं जीव की अपनी पर्याय हैं; परंतु वे शुद्ध आत्मवस्तु में नहीं हैं। अतः शुद्ध द्रव्यस्वभाव के आश्रय से जो निर्मल अनुभूति होती है, उसमें ये संक्लेशस्थान नहीं आते हैं, भिन्न रह जाते हैं; इसलिए वे संक्लेशस्थान जीव के नहीं हैं।

विशुद्धिस्थान – कषायों के विपाक की मंदता को विशुद्धिस्थान कहते हैं। राग की मंदता के जो असंख्य प्रकार हैं, वे सभी जीव के नहीं हैं, क्योंकि वे पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं अर्थात् कषाय की मंदता के भाव या शुभभाव ध्यान की अनुभूति से भिन्न रह जाते हैं, इसलिए वे शुभभाव जीव के नहीं हैं।

'आत्मा से भिन्न है'– ऐसा कहकर द्रव्य स्वभाव ग्रहण किया है और 'अनुभूति से भिन्न' कहकर वर्तमान पर्याय की बात ली है।

संयमलब्धिस्थान – चारित्रमोह के विपाक की क्रमशः निवृत्ति ही संयमलब्धिस्थान है। संयमलब्धिस्थान अर्थात् क्रम–क्रम से राग की निवृत्ति और वीतराग संयम के परिणामों की प्राप्ति के स्थान। चारित्र की प्राप्ति स्वरूप संयमलब्धि के स्थान भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि वह भी पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं।

पर्याय की ओर का लक्ष्य छुड़ाने के लिए और त्रिकाली वस्तु में पर्याय को ढ़ालने के लिए यहाँ संयमलब्धि के परिणाम को पुद्गल का कहा है अथवा दूसरे रूप में कहें तो संयम के निर्मल परिणामों के स्थानों पर लक्ष्य जाने से विकल्प होते हैं, इसलिए उन्हें पुद्गल का परिणाम कहा है। अंतर्मुखी पुरुषार्थ बढ़ने से क्रम-क्रम से संयम की दशा बढ़ती है, परंतु यहाँ कहते हैं कि वह दशा जीव की नहीं है, क्योंकि चारित्र की, संयम की निर्मल पर्यायें भेद रूप हैं; जबकि शुद्ध आत्मद्रव्य में चारित्र के भेद नहीं है तथा शुद्ध-आत्मा को विषय बनाने वाली दृष्टि (अनुभूति) में भी वे संयमलब्धि के भेद ज्ञात नहीं होते, भिन्न ही रह जाते हैं; क्योंकि भेद का लक्ष्य करने पर राग ही उत्पन्न होता है। अतः भेदों को भी राग की तरह अजीव पुद्गल परिणाम कहा है।

इसके पश्चात् 55वीं गाथा में अंतिम दो भावों में जीव की भिन्नता सिद्ध करते हुए उसका कारण भी बताया जा रहा है। ●

धर्म का आरंभ

चैतन्य स्वभाव पर दृष्टि करने से धर्म का आरंभ होता है, सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन का विषय त्रिकाली शुद्ध द्रव्य है। दृष्टि के विषय की अपेक्षा से ज्ञानी के अशुद्धता व दु:ख नहीं है; परंतु ज्ञान की अपेक्षा से देखें तो पर्याय में ज्ञानी को तथा मुनि को भी किंचित् अशुद्धता है, दु:ख है और उस राग का कर्ता और भोक्ता भी ज्ञानी ही है। कोई एकान्त से मान लेवे कि ज्ञानी को राग-द्वेष या दु:ख होता ही नहीं, तो ऐसा नहीं है।

समकिती को दृष्टि के साथ जो ज्ञान हुआ है, वह त्रिकाली शुद्ध द्रव्य को जानता है तथा वर्तमान पर्याय में जितना राग का परिणमन है, उसे भी जानता है; किंतु अशुद्धता का-राग का जो परिणमन है, उसका मैं कर्ता हूँ या कर्म के कारण वह होता है- ऐसा नहीं है तथा परिणमन में मुझे बिल्कुल राग ही नहीं है, ऐसा भी नहीं है। प्रवचनरत्नाकर भाग-2, पृ. 318-319

गाथा 55

णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पोग्गलदव्वस्स परिणामा ।।55।।

शब्दार्थ :- जीवट्ठाणा= जीवस्थान; गुणट्ठाणा= गुणस्थान; अत्थि= हैं; पोग्गलदव्वस्स= पुद्‌गल द्रव्य के; जेण दु= क्योंकि।

संदर्भ :- 29 प्रकार के सभी भाव जीव क्यों नहीं है? - यह बताते हुए इस गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि-

अर्थ :- जीव के जीवस्थान नहीं है और गुणस्थान भी नहीं है; क्योंकि ये सभी पुद्‌गलद्रव्य के परिणाम हैं।

व्याख्या :- इस गाथा की दूसरी पंक्ति में कहा गया 'ये सभी भाव पुद्‌गलद्रव्य के परिणाम हैं'- यह हेतु है, जो 50वीं गाथा से इस गाथा तक के सभी 29 प्रकार के भावों के साथ लगेगा।

उक्त सभी गाथाओं में क्रमशः 8+6+5+4+4+2 = 29 प्रकार के भावों को 'जीव के नहीं है' सिद्ध किया गया है।

इस गाथा में 14 जीवस्थान और 14 गुणस्थानों को जीव मानने की अज्ञानी की मान्यता का निराकरण किया गया है।

जीवस्थान - पर्याप्त -अपर्याप्त, बादर-सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रि-इंद्रिय, चार इंद्रिय और संज्ञी-असंज्ञी पंचेन्द्रिय रूप जीवस्थान भी जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्‌गल के परिणाममय हैं, अतः अनुभूति से भिन्न हैं। अभेद शुद्ध वस्तु में भेद नहीं हैं; क्योंकि अभेद आत्मा के ध्यान में वे भेद अंदर दिखाई नहीं देते।

गुणस्थान - 14 गुणस्थान भी जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं।

मोह और योग के निमित्त से होने वाली जीव की तारतम्य रूप अवस्था को गुणस्थान कहते हैं। ये 14 होते हैं- (1) मिथ्यात्व, (2) सासादन, (3) मिश्र, (4) अविरतसम्यक्त्व, (5) देशविरत, (6) प्रमत्तविरत, (7) अप्रमत्तविरत, (8) अपूर्वकरण, (9) अनिवृत्तिकरण, (10) सूक्ष्मसाम्पराय, (11) उपशान्तमोह, (12) क्षीणमोह, (13) सयोगकेवली, (14) अयोगकेवली।

यहाँ विशेष ध्यान रखने की बात यह है कि सम्यक्त्व भी पर्याय है और पर्याय पर लक्ष्य जाने से तो राग ही होता है, इसलिए यहाँ सभी पर्यायों को पुद्गल के परिणाम कहा है। दूसरी बात शुद्ध जीवद्रव्य का अनुभव करने पर अनुभव में भेद दिखाई नहीं देते, इसलिए सभी भेद पुद्गल के हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि वर्णादि से लेकर गुणस्थान पर्यंत 29 प्रकार के सभी भावों को पौद्गलिक कहा गया है, तथापि उन्हें स्पष्ट रूप से दो भागों में विभाजित किया गया है। एक तो स्पष्ट रूप से पुद्गल और दूसरे पुद्गल कर्म के उदय से आत्मा में उत्पन्न होने वाले औपाधिकभाव; विभावभाव, विकारी भाव । विशेष इतना कि जड़ भाव तो जड़ है ही; रागादि विकारी भावों में भी चैतन्य का अभाव है तथा भेद भी जीव में नहीं है। त्रिकाली आत्मा में तो भेद है ही नहीं तथा आत्मा के आश्रय से प्रकट हुई अनुभूति में भी वे भेद नहीं आते। इस कारण भेद को पुद्गल के परिणाममय कहा है।

संक्षेप में कहें तो 50वीं से 55वीं गाथा तक की 6 गाथाओं में वर्णादि से लेकर गुणस्थान तक के 29 प्रकार के भावों को जीव मानने की अज्ञानी की मान्यता का निषेध किया गया है।

इसके पश्चात् 56वीं गाथा में 29 भावों की स्थिति को नयों के माध्यम से बताया जा रहा है। ●

गाथा 56

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स।।56।।

पदविच्छेद :– वण्णम्+आदीया।

शब्दार्थ:– ववहारेण= व्यवहारनय से; दु= तो; एदे=यह; हवंति= होते हैं; वण्णमादीया= वर्ण आदि से लेकर; गुणठाणंता= गुणस्थान पर्यंत; भावा= जो भाव; णिच्छयणयस्स= निश्चयनय से; केई= कोई भी।

संदर्भ :– उक्त 29 प्रकार के भावों में नयों की अपेक्षा बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि–

अर्थ :– ये वर्णादि से लेकर गुणस्थान पर्यन्त जो भाव कहें हैं, वे व्यवहारनय से तो जीव के हैं; किंतु निश्चयनय से उनमें से कोई भी जीव के नहीं हैं।

व्याख्या :– 50वीं गाथा से 55वीं गाथा तक में सामान्यरूप से कहा गया था कि वर्णादि से गुणस्थान पर्यन्त भाव जीव के नहीं हैं। उन्हीं भावों में नयों की अपेक्षा बताते हुए इस गाथा में कहा जा रहा है कि वे 29 प्रकार के भाव यद्यपि व्यवहारनय से जीव के कहे जाते हैं; तथापि निश्चयनय से वे जीव के नहीं हैं ।

वर्णादि से गुणस्थान पर्यन्त भाव जीव के क्यों नहीं हैं ? इसे ही 57वीं गाथा में उदाहरण देकर विशेष रूप से स्पष्ट करते हैं। ●

> स्वभाव की दृष्टि से देखें तो दृष्टि के जोर में तो राग का भोक्ता आत्मा नहीं है; क्योंकि 'राग भोगने योग्य है' – ऐसी बुद्धि ज्ञानी की नहीं होती, परन्तु उसके वेदन में राग का भी वेदन होता है। अत: इस अपेक्षा से उसे भोक्ता भी कहा है तथा ज्ञान की अपेक्षा देखो तो ज्ञानी आनन्द का भोक्ता है।

गाथा 57

एदेहिं य सम्बन्धो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
ण य होंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा ।।57।।

पदविच्छेद :– खीर+उदयं, उवओग–गुण+अधिगो।

शब्दार्थ:– एदेहिं य= इन भावों के साथ; संबन्धो=संबंध(जीव का); खीरोदयं= दूध और पानी; मुणेदव्वो= मानना चाहिए, जानना चाहिए; ताणि= वे; तस्स= उसके; ण=नहीं; होंति= होते हैं; जम्हा= क्योंकि; उवओगगुणाधिगो= उपयोग गुण से अधिक।

संदर्भ :– वर्णादि से लेकर गुणस्थान पर्यन्त के 29 प्रकार के भाव जीव के नहीं है – इसे उदाहरण व तर्क द्वारा विशेष रूप से समझाते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि –

अर्थ :– यद्यपि इन वर्णादि भावों के साथ जीव का दूध और पानी की तरह संबंध है; तथापि वे जीव के नहीं है; क्योंकि जीव वर्णादि भावों से उपयोग गुण से अधिक है– ऐसा जानना चाहिए।

व्याख्या :– इस गाथा की प्रथम पंक्ति में व्यवहारनय का उदाहरण देते हुए स्पष्ट किया जा रहा है कि जिसप्रकार दूध और पानी का एकक्षेत्रावगाह संबंध है; उसीप्रकार आत्मा का वर्ण, गंध आदि गुणों वाले पुद्गल के साथ, राग–द्वेष आदि विकार के साथ, गुणस्थानादि भेदों के साथ और परस्पर जीव– पुद्गल के साथ एकक्षेत्रावगाह संबंध है, अतः वर्णादि भावों को व्यवहार से जीव कहा जाता है; किंतु ये सभी भाव निश्चय से जीव के नहीं हैं; क्योंकि जीव और वर्णादि का अग्नि और उष्णता के समान तादात्म्यसंबंध नहीं है। जीव का तादात्म्यसंबंध तो ज्ञान–दर्शनरूप उपयोग गुण के साथ है, अतः वही निश्चय से जीव का स्वरूप है।

इसप्रकार इस गाथा की द्वितीय पंक्ति में जीव का स्वरूप बताकर वर्णादि व रागादि भावों से जीव की भिन्नता विशेष रूप से भी स्पष्ट कर दी गई है।

संक्षेप में कहें तो वर्णादि व रागादि भाव व्यवहारनय से जीव के हैं और निश्चयनय से जीव के नहीं हैं । ऐसा अस्ति-नास्ति रूप कथन ही स्याद्वाद है। यही जैनदर्शन की विशेषता है। यहाँ विशेष बात ध्यान रखने की यह है कि ' व्यवहार से भी जीव के हैं; निश्चय से भी जीव के हैं'- ऐसा स्याद्वाद नहीं है। पर्यायरूप से तो ये भेद हैं, परंतु आत्मा के चैतन्य स्वरूप में वे नहीं है, इस कारण वर्णादि भाव व्यवहार से जीव के हैं ;किंतु निश्चयनय से जीव के नहीं हैं- ऐसा यथार्थ स्याद्वाद है।

इसके पश्चात् 58वीं गाथा में व्यवहारनय को लोक प्रसिद्ध उदाहरण द्वारा विशेष स्पष्ट किया जा रहा है। ●

विकारों का त्याग

पर का त्याग-ग्रहण तो आत्मा के स्वरूप में है ही नहीं, विकार का त्याग-ग्रहण भी स्वभाव में नहीं है; क्योंकि ज्ञायक स्वभाव में विकार है ही नहीं। अतः विकार के त्याग करने की बात ही कहाँ रही?

यद्यपि वर्तमान पर्याय में विकार है, तदपि जैसे ही दृष्टि स्वरूप में स्थिर होती है, वैसे ही निर्मल परिणमन होता है व रागादि विकार उत्पन्न ही नहीं होते; तब रागादि विकारों का त्याग किया ऐसा कहने में आता है।

प्रवचनरत्नाकर भाग-2, पृष्ठ-339 के आधार से

गाथा 58

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई।।58।।

शब्दार्थ:– पंथे= मार्ग में(जाते हुए); मुस्संतं= व्यक्ति को लुटता हुआ; पस्सिदूण= देखकर; ववहारी लोगा= व्यवहारी लोग; भणंति= कहते हैं; मुस्सदि= लुटता है; ऐसो= यह; पंथो= रास्ता या मार्ग।

संदर्भ :– व्यवहार– निश्चयनय की कथन पद्धति को उदाहरण देकर समझाते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि–

अर्थ :– जिसप्रकार मार्ग में जाते हुए व्यक्ति को लुटता हुआ देखकर व्यवहारीजन ऐसा कहते हैं; कि यह मार्ग लुटता है, किंतु परमार्थ से विचार किया जाए तो कोई मार्ग तो लुटता नहीं है ;अपितु मार्ग में चलता हुआ पथिक ही लुटता है।

व्याख्या :– इस गाथा में लौकिक व्यवहार में प्रचलित उदाहरण द्वारा व्यवहार कथन के औचित्य को सिद्ध करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कह रहे हैं कि सामान्य जन राहगीर (पथिक) को लुटते देखकर 'मार्ग लुटता है' कह देते हैं। 'मार्ग लुटता है'– यह सुनकर राहगीर समझ जाते हैं कि वास्तव में मार्ग नहीं, मार्ग पर चलने वाले यात्री ही लुटते हैं और फिर वे उस मार्ग पर नहीं जाते हैं। इसप्रकार व्यवहार कथन से भी प्रयोजन सिद्ध होते हैं।

उस जमाने में जब आवागमन के साधन बहुत सीमित थे, तब एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने में रास्ते में पड़ने वाले सुनसान स्थान पर डाकू घात लगाकर बैठे रहते थे और राहगीर को लूटते रहते थे। उसी जनसामान्य के भुक्तभोगी उदाहरण को आचार्यदेव ने इस गाथा में दिया है।

59वीं गाथा में इसी उदाहरण को सिद्धांत पर घटाया जा रहा है।

●

गाथा 59

तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो।।59।।

शब्दार्थ:– तह = इसीप्रकार; जीव = जीव में; कम्माणं = कर्मों का; च = और; णोकम्माणं = नोकर्मों का; वण्णं = वर्ण; पस्सिदुं = देखकर; जिणेहिं = जिनेन्द्र भगवान; ववहारदो = व्यवहार नय से; उत्तो = कहते हैं; एस वण्णो = यह वर्ण जीव का है।

संदर्भ :– वर्ण को जीव कहने की अपेक्षा बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि–

अर्थ :– इसीप्रकार जीव में कर्मों और नोकर्मों का वर्ण देखकर जिनेन्द्र भगवान व्यवहार से ऐसा कहते हैं कि यह वर्ण जीव का है।

व्याख्या :– इस गाथा में व्यवहार कथन की सत्यार्थता, भूतार्थता बताते हुए आचार्यदेव कह रहे हैं कि– जिसप्रकार रास्ते (मार्ग) पर चलने वाले धनी व्यक्ति को लुटता देखकर 'मार्ग लुटता है' कहा जाता है; उसीप्रकार आत्मा की एक समय की पर्याय में वर्ण के साथ संबंध देखकर 'वे वर्ण जीव के हैं'– ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। अतः वर्तमान पर्याय की अपेक्षा से तो वह व्यवहारनय सत्यार्थ ही है।

इसप्रकार इस गाथा में वर्ण को जीव कहने की अपेक्षा बताने के पश्चात् आगामी 60वीं गाथा में 29 प्रकार के सभी भावों को जीव कहने की अपेक्षा बता रहे हैं। ●

> राग हो या मिथ्यात्व हो, गुणस्थान के भेद हों या जीवस्थान के भेद हों – इन सबके साथ मात्र एक समय का ही संबंध है। एक समय का संबंध है, इस अपेक्षा से वह भेद जीव के हैं– ऐसा व्यवहार से कहा है; तथापि स्वभाव की दृष्टि से देखने पर वे भेद जीव के नहीं हैं।
>
> –प्रवचनरत्नाकर भाग–2, गाथा 58–60, पृष्ठ–312 के आधार पर

गाथा 60

गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ।।60।।

पदविच्छेद – गंध–रस–फास–रूवा, संठाणम्+आइया, णिच्छय–दण्हू।

शब्दार्थ – फास= स्पर्श; रूवा= रूप; देहो= शरीर(देह); संठाणमाइया= संस्थान आदि; जे य सव्वे= जो सब हैं; ववहारस्स य= व्यवहारनय से ही; णिच्छयदण्हू= निश्चयनय के देखने वाले; ववदिसंति= कहते हैं।

संदर्भ :– इस गाथा में 29 प्रकार के भावों को जीव कहने की अपेक्षा बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि–

अर्थ :– जिसप्रकार जीव के वर्ण नहीं हैं ; उसीप्रकार गंध, रस, स्पर्श, रूप, देह, संस्थान आदि के बारे में भी समझना चाहिए कि ये सब भाव भी व्यवहार से ही जीव के हैं– ऐसा निश्चयनय के देखनेवाले (जानकार) कहते हैं।

व्याख्या :– 50वीं गाथा से 55वीं गाथा तक की छह गाथाओं में कहे गए 29 प्रकार के सभी भाव एक समय की पर्याय में होने से व्यवहारनय से जीव के कहे जाते हैं ।

इसप्रकार हम देखते हैं कि 58वीं से 60वीं तक की तीन गाथाओं में उदाहरण पूर्वक व्यवहारनय का दृष्टिकोण (view) बताते हुए वर्णादि से लेकर गुणस्थान पर्यंत 29 प्रकार के भावों को जीव के कहा गया है।

'निश्चयनय के जानकार' कहकर आचार्यदेव यहाँ कहना चाह रहे हैं कि जिन्होंने यह व्यवहार कथन किए हैं, वे निश्चयनय के भी भली–भांति ज्ञाता हैं ; सुपरिचित हैं।

इसके पश्चात् 61वीं गाथा से 64वीं गाथा तक की चार गाथाओं में उक्त सभी भावों के संबंध में विशेष कथन किया जा रहा है। ●

गाथा 61

तत्थ भवे जीवाणं संसारत्थाणं होंति वण्णादी।
संसारपमुक्काणं णत्थि हु वण्णादओ केई।।61।।

पदविच्छेद :– वण्ण+आदि, संसार+पमुक्काणं, वण्ण+आदओ

शब्दार्थ :–संसारत्थाणं= संसार में स्थित; होंति= होते हैं; वण्णादि= वर्णादि भाव; जीवाणं= जीवों के; संसारपमुक्काणं= संसार से मुक्त हुए; वण्णादओ= वर्णादि भाव; केई=कोई; तत्थभवे= उस संसार में।

संदर्भ :– इस गाथा में संसारी व मुक्त जीवों की अपेक्षा वर्णादि भावों की स्थिति को बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि-

अर्थ :– जो वर्णादि भाव हैं, वे संसार में स्थित जीवों के उस संसार में होते हैं और संसार से मुक्त हुए जीव के वर्णादि कोई भी भाव नहीं हैं।

व्याख्या :– पूर्व गाथाओं में जिन वर्णादि भावों को व्यवहार नय से जीव का कहा गया है, वे सभी भाव संसार में स्थित जीवों के ही होते हैं, मोक्ष में स्थित जीवों के ये वर्णादि भाव नहीं होते हैं अर्थात् इन भावों का संसार अवस्था में तो एक समय का संबंध है, किंतु सिद्धावस्था में संबंध नहीं है।

इसके पश्चात् की तीन गाथाओं में वर्णादि को सर्वदा (हमेशा) जीव मानने की मान्यता का निराकरण तर्क और युक्तियों से किया जा रहा है। ●

ज्ञानी विचार करता है कि – ज्ञान मेरा स्वभाव है। इस स्वभाव से मैं कभी बंध नहीं सकता; क्योंकि यदि स्वभाव से ही बंध होने लगे तो हम कभी बंध रहित नहीं हो सकेंगे। मेरा ज्ञानभाव क्रोध भावरूप नहीं है और न ही क्रोधभाव ज्ञानभावरूप है। मैं (आत्मा) ज्ञानरूप हूँ, क्रोध आस्रवरूप हैं, अतः मैं क्रोध आदि भावरूप नहीं हूँ।

इसप्रकार ज्ञानी आस्रव व ज्ञान के बीच की भिन्नता जानता है, यही ज्ञान है, भेदविज्ञान है। इसी भेदविज्ञान से बन्ध का निरोध होता है।

गाथा 62

जीवो चेव हि एदे सव्वे भाव त्ति मण्णसे जदि हि।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई।।62।।

पदविच्छेद :– च+एव, जीवस्स+अजीवस्स।

शब्दार्थ :– जदि हि = यदि तुम; त्ति मण्णसे = ऐसा मानोगे कि; एदे = ये; सव्वे = सब या सभी; भाव = वर्णादि भाव; जीवो = जीव; एव = ही है; दु = तो; दे = तुम्हारे मत में; जीवस्स = जीव के; य = और अजीवस्स = अजीव के; विसेसो = भेद; कोई = किसी प्रकार का; णत्थि = नहीं रहता।

संदर्भ :– वर्णादि को सर्वदा जीव मानने की मान्यता का सामान्यरूप से निराकरण करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द इस गाथा में कहते हैं कि–

अर्थ :– यदि तुम ऐसा मानोगे कि ये सब वर्णादिभाव जीव ही हैं तो तुम्हारे मत में जीव और अजीव का कोई अंतर ही न रहेगा।

व्याख्या :– वर्णादि 29 प्रकार के भावों को जीव का स्वरूप मानने की अज्ञानी की मान्यता का निराकरण करते हुए आचार्यदेव कह रहे हैं कि यदि वर्णादि भावों को जीव का स्वरूप मानेंगे तो उन वर्णादि का पुद्गल के साथ जैसा 'तादात्म्यसंबंध है', वैसा ही तादात्म्यसंबंध जीव के साथ भी मानना पड़ेगा और ऐसा मानने पर जीव और पुद्गल में कोई भी भेद नहीं रहेगा। पुद्गल और जीव में कोई भेद न रहने पर जीव का अभाव ही हो जाएगा। अतः सिद्ध है कि वर्णादि भाव जीव के स्वभाव भाव नहीं है।

इसके पश्चात् आचार्यदेव 63वीं गाथा में जीव की संसारी अवस्था में भी वर्णादि भावों के तादात्म्य का निषेध कर रहे हैं। ●

गाथा 63

अह संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा।।63।।

पदविच्छेद :– वण्ण+आदि, रुवित्तम्+आवण्णा।

शब्दार्थ :– अह= अथवा(यदि); तुज्झ= तुम्हारे मत में; संसारत्थाणं= संसार में स्थित; जीवाणं= जीवों की; वण्णादी= वर्णादिक भाव; होंति= होते हैं; तम्हा= तो इस कारण से; संसारत्था जीवा= संसार में स्थित जीव; रूवित्तम= रूपित्व को; आवण्णा= प्राप्त हो जाएँगे।

संदर्भ :– संसारी अवस्था में वर्णादि भावों को जीव का स्वरूप मानने में उत्पन्न दोष को बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द इस गाथा में कह रहे हैं कि–

अर्थ :– तुम्हारा यह जो मानना है कि संसार में स्थित जीवों के ही वर्णादि होते हैं, तो फिर संसार में स्थित सभी जीव रूपी हो जाएंगे।

व्याख्या :– इस गाथा में आचार्यदेव कह रहे हैं कि यदि संसार अवस्था में ही जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्यसंबंध माना जाएगा, तो संसार अवस्था में जीव का अभाव मानना पड़ेगा; क्योंकि जिसप्रकार वर्णादिभाव पुद्गलद्रव्य के साथ तादात्म्यस्वरूप हैं, उसीप्रकार जीव के साथ भी तादात्म्यस्वरूप हों , तो जीव भी रूपी हो जाएगा और जीव व पुद्गल में कोई भेद नहीं रह जाएगा– ऐसा होने से जीव का ही अभाव हो जाएगा।

इसके पश्चात् 64वीं गाथा में मोक्ष अवस्था में भी वर्णादि भावों के साथ तादात्म्य का निषेध किया जा रहा है। ●

> भेद अभेद का ज्ञान कराता है, अभेद का अनुभव नहीं कराता; इसलिए भेद आदरणीय नहीं है।
>
> –प्रवचनरत्नाकर भाग–2, गाथा–46, पृष्ठ–211

गाथा 64

एवं पोग्गलदव्वं जीवो तहलक्खणेण मूढमदी।
णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पोग्गलो पत्तो।।64।।

पदविच्छेद :– तह+लक्खणेण, णिव्वाणम्+उवगदो।

शब्दार्थ :– मूढमदी = हे मूढ़मति; एवं= ऐसा होने पर; पोग्गलदव्वं= पुद्गलद्रव्य; तहलक्खणेण= वैसा लक्षण(रूपित्व को); णिव्वाणम्= निर्वाण को; उवगदो वि= प्राप्त होने पर भी; जीवत्तं= जीव को; य= और; पोग्गलो= पुद्गल द्रव्य; पत्तो= प्राप्त हुआ।

संदर्भ :– वर्णादि को जीव का स्वभाव मानने पर मोक्ष अवस्था में होने वाले दोषों को बताते हुए इस गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द कह रहे हैं कि –

अर्थ :– अतः हे मूढ़मति ! पुद्गल द्रव्य ही जीव कहलाया। अकेले संसार अवस्था में ही नहीं, अपितु निर्वाण प्राप्त होने पर भी पुद्गल ही जीवत्व को प्राप्त हुआ।

व्याख्या :– इस गाथा में आचार्यदेव निष्कर्ष बताते हुए कह रहे हैं कि वर्णादि को जीव का स्वभाव मानने पर पुद्गल का लक्षण और जीव का लक्षण एक ही हो जाएगा। दोनों के एक लक्षण होने पर सभी जीव पुद्गल ही हो जाएंगे और निर्वाण होने पर, मुक्ति होने पर सभी पुद्गलों की ही मुक्ति होगी अर्थात् सिद्ध भगवान भी पुद्गलमय सिद्ध हो जाएँगे। इसप्रकार संसार अवस्था के समान ही सिद्ध अवस्था में भी जीव का अभाव ही सिद्ध होगा। अतः मोक्ष अवस्था में भी वर्णादि के साथ जीव का तादात्म्य संबंध न होने से वे जीव के स्वरूप नहीं है, स्वभाव नहीं है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि 62वीं, 63वीं और 64वीं गाथाओं में यह अत्यंत स्पष्टरूप से कह दिया गया है कि वर्णादि 29 प्रकार के पुद्गलरूप भाव निश्चय से जीव से भिन्न ही हैं। जीव का निश्चय से उन 29 प्रकार के भावों के साथ न मोक्ष अवस्था में तादात्म्यसंबंध है और न ही संसार अवस्था में। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव में वर्णादि को जीव मानने रूप अज्ञान की जड़ें बहुत गहराई से जमी हुई हैं। उन्हें समूल उखाड़ फेंकने की दृष्टि से 65वीं से 68वीं तक की 4 गाथाओं में एक बार पुनः आगम और तर्कों से उनकी पुद्गलमयता सिद्ध कर रहे हैं।

●

नयों का सही स्वरूप

द्रव्य की अपेक्षा से व्यवहारनय को असत्यार्थ कहा है। उसका अर्थ है– पर्याय, संसार या मोक्ष द्रव्यस्वभाव में नहीं है; इसकारण से वह सर्वथा है ही नहीं; ऐसा नहीं समझना। वर्तमान पर्याय की अपेक्षा से तो यह व्यवहारनय है, इसकारण वह कथंचित् सत्यार्थ है। संसार है, उदयभाव हैं, इसकारण 29 प्रकार के भाव भी पर्याय की अपेक्षा हैं। एक समय की पर्याय अस्ति रूप से है; परंतु नित्य-आनंद स्वरूप अनादि-अनंत चैतन्यप्रवाह रूप जो आत्मा है, उसकी दृष्टि करते समय ये भेद प्रतिभासित नहीं होते; इसकारण वे भेद द्रव्य में नहीं हैं – इसप्रकार उनका कथंचित् निषेध किया गया है। अतः यदि उन पर्याय के भेदरूप भावों को द्रव्य के कहना चाहें तो व्यवहारनय से कह सकते हैं, पर निश्चय से वे द्रव्य में नहीं है। यही निश्चय-व्यवहार कथनों का सही स्वरूप है।

प्रवचनरत्नाकर, भाग –2, पृष्ठ–316 के आधार से

गाथा 65

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इन्दिया जीवा।

बादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ।।65।।

पदविच्छेद :– बादर–पज्जत्त+इदरा।

शब्दार्थ :– एक्कं इन्दिया= एक इन्द्रिय; दोण्णि– दो इन्द्रिय; तीण्णिय= तीन इन्द्रिय; चत्तारि= चार इन्द्रिय; पंच= पाँच इन्द्रिय; बादर= बादर; पज्जत्ति= पर्याप्त; इदरा= इससे भिन्न अर्थात् सूक्ष्म व अपर्याप्त; पयडीओ= प्रकृतियाँ; णामकम्मस्स= नामकर्म की।

संदर्भ :– शास्त्रों में प्रयुक्त एक इन्द्रिय , द्वीन्द्रिय जीव आदि जीवस्थानों (जीव समास) की पुद्गलमयता बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि–

अर्थ :– एक इन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पाँच इन्द्रिय, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, और अपर्याप्त – यह नामकर्म की प्रकृतियाँ हैं।

व्याख्या :– इस गाथा में 29 प्रकार के भावों में से वे ही भाव लिए हैं जो कि नामकर्म के उदय से होते हैं; क्योंकि उनकी पुद्गलमयता सिद्ध करना ही इस गाथा का उद्देश्य है।

आठ कर्मों में एक नामकर्म है। इसकी 93 प्रकृतियाँ हैं। उनमें से एक ऐसी प्रकृति है कि जो पर्याप्त आदि को उत्पन्न करती है। इसलिए इस गाथा में आचार्यदेव कह रहे हैं कि जो शास्त्रों में 14 जीव समास में एक इंद्रिय, दो इंद्रिय आदि प्रकार से जीव के भेद किए जाते हैं, वे सभी भेद नामकर्म की प्रकृतियों के आधार पर ही किए जाते हैं। नामकर्म की प्रकृतियाँ पुद्गलमय हैं; अतः उनके आधार पर किए जाने वाले भेद भी पुद्गलमय ही हैं।

इसके पश्चात् 66वीं गाथा में निश्चयनय से उन नामकर्म की प्रकृतियों को जीव कहने का निराकरण किया जा रहा है। ●

गाथा 66

एदाहिं य णिव्वत्ता जीवट्ठाणा उ करणभूदाहिं।
पयडीहिं पोग्गलमइहिं ताहिं कहं भण्णदे जीवो।।66।।

शब्दार्थ :– एदाहिं= इन; पयडीहिं= प्रकृतियों; पोग्गलमइहिं = पुद्‌गलमय; ताहिं = उनके द्वारा; करणभूदाहिं= करण स्वरूप होकर; णिवत्ता= रचित; जीवट्ठाणा= जीवस्थान; कहं= कैसे; भण्णदे= कहे जा सकते हैं।

संदर्भ :– 'जीवस्थानों' को निश्चय से जीव नहीं कहा जा सकता– इसे सिद्ध करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि–

अर्थ :– इन पुद्‌गलमयी नामकर्म की प्रकृतियों से करणरूप (साधनरूप) होकर रचित जीवस्थानों को जीव कैसे कहा जा सकता है?

व्याख्या :– 65वीं गाथा में सिद्ध किया गया है कि नामकर्म की सभी प्रकृतियाँ पुद्‌गल से निर्मित हैं। उसी को आगे बढ़ाते हुए आचार्यदेव कह रहे हैं कि पुद्‌गलमयी नामकर्म प्रकृतियों से निर्मित 14 जीवस्थान निश्चयनय से जीव कैसे हो सकते हैं? अर्थात् किसी भी प्रकार से नहीं हो सकते हैं; क्योंकि करण (कारण) और कार्य अभिन्न होते हैं।

करण अर्थात् साधन, कारण। निश्चयनय से करण (साधन) और कार्य में अभिन्नपना होता है। करण भिन्न हो और कार्य भिन्न हो ऐसा नहीं होता। जैसे– सोने से बने घड़े रूप कार्य का कारण सोना ही होता है, सुनार आदि नहीं; क्योंकि कारण व कार्य अभिन्न होता है। जिसप्रकार सोने से बने घड़े को लोग स्वर्ण के रूप में ही देखते हैं, घड़े के रूप में नहीं, वैसे ही पुद्‌गलमयी प्रकृतियों से निर्मित जीवस्थान पुद्‌गलद्रव्य स्वरूप ही हैं, वे जीव स्वरूप नहीं है। इसप्रकार इस गाथा में इस बात को विशेष स्पष्ट किया जा रहा है कि छह काय शरीर की उत्पत्ति कार्य

है तथा पुद्गल इसका कारण है। पर्याप्त–अपर्याप्त आदि जीवस्थान के भेदों की उत्पत्तिरूप कार्य अपनी–अपनी पुद्गल प्रकृतिरूप करण (साधन) से हुए हैं।

संक्षेप में कहे तो आगम में ऐसा कहा है कि नामकर्म के कारण पर्याप्त–अपर्याप्त आदि भेद हैं तथा अनुमान से भी यह जाना जा सकता है। जड़ का कार्य जड़ के कारण हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष देखने में आते हुए शरीर आदि भाव मूर्तिक हैं तथा वे मूर्त पुद्गलरूप कर्म प्रकृतियों के कार्य हैं। जो मूर्त है, उसका कारण भी मूर्त होता है। अतः नामकर्म के उदय से होने वाले जीवस्थान आदि निश्चय से जीव नहीं है। जो उन कार्यों को अपनी आत्मा में मानता है वह अजीव को जीव कहता है, यही अजीव तत्त्व संबंधी भूल है।

यहाँ विशेष बात समझने की यह है कि जिसप्रकार पर्याप्त–अपर्याप्त आदि 14 जीवस्थान नामकर्म के कार्य हैं; उसीप्रकार गंध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान व संहनन भी पुद्गलमय नामकर्म की प्रकृतियों के कार्य हैं। पुद्गल से अभिन्न होने से जिसप्रकार जीवस्थानों को पुद्गल का कहा है, उसीप्रकार उपरोक्त सभी भाव भी पुद्गलमय हैं। इन सभी भावों की पुद्गलमयता 58 से 60 तक की गाथाओं में भी सिद्ध कर चुके हैं।

इसके पश्चात् 67वीं गाथा में जीवनस्थानों को जीव कहने की अपेक्षा बताई जा रही है। ●

पर्याय में जो राग होता है, वह पर्याय का धर्म है। निमित्त के आधीन होकर परिणमित हुई पर्याय में राग होता है और स्वभाव के आधीन होने पर राग नहीं होता। स्वानुभूति होने पर वह आत्मा से भिन्न पड़ जाता है, इसलिए जीव का स्वभाव नहीं होने से व अनुभूति से भिन्न होने के कारण राग को पुद्गल का परिणाम कहा है।

–प्रवचनरत्नाकर भाग–2, गाथा 50–55, पृष्ठ–264 के आधार पर

गाथा 67

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहमा बादरा य जे चेव।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ।।67।।

पदविच्छेद :– पज्जत्त+अपज्जत्ता।

शब्दार्थ :– जे = जो; पज्जत्त = पर्याप्त; अपज्जत्ता = अपर्याप्त; सुहमा = सूक्ष्म; य = और; बादरा = बादर; जे चेव = जितनी; देहस्स = देह की; जीवसण्णा = जीवसंज्ञा (जीव के नाम); सुत्ते = शास्त्र में, सूत्र में; ववहारादो = व्यवहार नय से; उत्ता = कहे गये हैं।

संदर्भ :– एकेन्द्रिय आदि को जीव कहने की अपेक्षा बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द इस गाथा में कहते हैं कि –

अर्थ :– शास्त्रों में देह के पर्याप्तक, अपर्याप्तक, सूक्ष्म, बादर आदि जितने भी नाम जीव रूप में दिए गए हैं; वे सभी व्यवहारनय से ही कहे गए हैं।

व्याख्या :– इस गाथा में व्यवहारनय की स्थापना करते हुए आचार्यदेव कह रहे हैं कि शास्त्रों में आत्मा को पर्याप्तक जीव, अपर्याप्तक जीव, सूक्ष्म जीव, बादर जीव, एकेन्द्रिय जीव, दो इन्द्रिय जीव (14 जीवसमास/ जीवस्थान) आदि नामों से अभिहित किया जाता है, वह व्यवहार कथन है।

जिसप्रकार जीवस्थान को जीव के कहना व्यवहार कथन है, उसीप्रकार वर्णादि सभी 29 प्रकार के भावों को जीव के कहना व्यवहार कथन ही है। अज्ञानी जीव अपनी अज्ञानता वश इन व्यवहार कथनों को निश्चय कथन समझ लेता है; अतः अज्ञानी जीव की उस अज्ञानता को इस गाथा में दूर किया गया है।

जिसप्रकार अज्ञानी जीव में जीवस्थान के संबंध में अज्ञानता होती है, उसीप्रकार गुणस्थान के संबंध में भी अज्ञानता रह जाती है।

68वीं गाथा में आचार्यदेव अज्ञानी जीव की गुणस्थान को जीव मानने रूप अज्ञानता को दूर कर रहे हैं। ●

गाथा 68

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता।।68।।

पदविच्छेद :–मोहणकम्मस्स+उदया, णिच्चम्+अचेदणा।

शब्दार्थ:– जे इमे = जो ये; गुणट्ठाणा= गुणस्थान हैं; मोहकम्मस्स= मोहकर्म के; उदया= उदय से(होते हैं); वण्णिया= वर्णन किया गया है; ते= वे; जीवा= जीव; कह= कैसे; हवंति= हो सकते हैं; णिच्चम्= नित्य,सदा; अचेदणा= अचेतन; उत्ता= कहे गये हैं।

संदर्भ :– इस गाथा में गुणस्थानों की अचेतनता बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि –

अर्थ :–जो यह गुणस्थान हैं, वे मोहकर्म के उदय से होते हैं, ऐसा (सर्वज्ञ के आगम में) वर्णन किया गया है; वे जीव कैसे हो सकते हैं कि जो सदा अचेतन कहे गए हैं?

व्याख्या :– जिसप्रकार 65वीं और 66वीं गाथा में बहिरंग जीवस्थान आदि को पुद्गलमय बताकर उन्हें 'जीव नहीं है'– सिद्ध किया था; उसीप्रकार यहाँ अभ्यंतर गुणस्थान रूप रागादि भावों को भी अचेतन कहकर 'जीव नहीं है'– सिद्ध किया जा रहा है।

इस गाथा में प्रश्नात्मक लहजे में आचार्यदेव कह रहे हैं कि भाई! आप ही बताओ! मोहकर्म के उदय से होने वाले अचेतन गुणस्थान जीव कैसे हो सकते हैं ? अर्थात् उनमें जीवपना संभव नहीं है।

सभी गुणस्थान पौद्गलिक मोहकर्म की प्रकृति के उदय पूर्वक होते हैं; अतः वे नित्य अचेतन हैं, अजीव हैं; जीव नहीं हैं। इनमें शुद्ध चैतन्य का रूप नहीं है। यदि ये आत्मा की जाति के हों तो इन गुणस्थानों को सिद्ध दशा में भी होना चाहिए।

इसप्रकार युक्ति और आगम से सिद्ध होता है कि गुणस्थान आदि भावों से आत्मा भिन्न ही है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि 50वीं गाथा से 68वीं गाथा तक की 19 गाथाओं में 29 प्रकार के भावों को व्यवहार से ही जीव कहा है, निश्चय से नहीं। निश्चय से ये सब भाव अजीव हैं, अचेतन हैं, पौद्गलिक हैं। इन्हें जीव मानना ही अजीव तत्व संबंधी भूल है।

विशेष इतना कि 50 से 64 तक की 15 गाथाओं में अजीव संबंधी भूलों का विस्तार से वर्णन है और 65 से 68 तक की 4 गाथाओं में जीव-अजीव संबंधी भूलों का उपसंहार करते हुए 29 प्रकार के भावों को दो मुख्य भागों में विभाजित किया गया है।

इन गाथाओं में जीवस्थान को वर्णादि के प्रतिनिधि के रूप में और गुणस्थान को रागादि के प्रतिनिधि के रूप में ग्रहण किया गया है। इसप्रकार जीवस्थान व गुणस्थान में अथवा वर्णादि व रागादि में सभी 29 प्रकार के भाव समाहित हो जाते हैं।

मोहादि भावों का आत्मा में उत्पन्न होना ही भावास्रव है और उसके निमित्त से द्रव्य कर्मों का स्वयं आना द्रव्यास्रव है।

इसीप्रकार आत्मा का मोह, राग, द्वेष, पुण्य-पाप आदि विभाव भावों में रुक जाना भावबंध है और उसके निमित्त से पुद्गल का स्वयं कर्मरूप बंधना द्रव्यबंध है। अतः अब आगे की गाथाओं में आचार्यदेव मोहादि आस्रवभाव व आत्मा के उक्त भेद को न जानने वाले का स्वरूप बता रहे हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द 69वीं गाथा में सर्वप्रथम आस्रव के कारण बताकर अज्ञानी जीव की प्रवृत्ति का भी सामान्य कथन कर रहे हैं।

●

गाथा 69

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोह्णंपि।
अण्णाणी ताव दु सो कोहादिसु वट्टदे जीवो।।69।।

शब्दार्थ :– जाव = जबतक; ण वेदि = नहीं जानता; विसेसंतरं = विशेष भेद, भेदविज्ञान; भिन्न-भिन्न स्वरूप को; आदासवाण = आत्मा और आस्रव; दोह्णं पि = दोनों के भी; अण्णाणी = अज्ञानी; ताव = तबतक; सो = वह; कोहादिसु = क्रोधादिक आस्रवों में; वट्टदे = वर्तता है (रहता है)।

संदर्भ :– जीव कब तक अज्ञानी रहता है? अज्ञानी जीव की प्रवृत्ति कैसी होती है? उन्हें भावकर्मों का आस्रव कैसे होता है? यह बताते हुए इस गाथा में कहा गया है कि –

अर्थ :– जब तक जीव आत्मा और आस्रव – इन दोनों के भिन्न-भिन्न स्वरूप को नहीं जानता है, तब तक वह अज्ञानी रहता है। जब तक जीव अज्ञानी रहता है, तब तक वह क्रोधादिभावों में अपनेपन से प्रवृत्ति करता है।

व्याख्या :– इस गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द कह रहे हैं कि – जब तक जीव रागादि आस्रवभावों और शुद्धात्मा का भेद नहीं जानता, तब तक अज्ञानी रहता है, बहिरात्मा रहता है; क्योंकि ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, रागादि आस्रवभाव आत्मा के विभाव हैं। ऐसा होने पर भी अज्ञानियों को अपने अज्ञान के कारण आस्रवभाव भी ज्ञान के समान ही स्वभावरूप भासित होते हैं, अपने लगते हैं। अतः अज्ञानियों की क्रोधादि आस्रवों में निशंक प्रवृत्ति होती है।

क्रोधादि आस्रवभाव स्वभाव के लक्ष्य से नहीं, अपितु परद्रव्य के लक्ष्य से उत्पन्न होते हैं; अतः दुःखदायी हैं। जिसप्रकार लोक में स्व-

पति के निमित्त से उत्पन्न संतान सुखदायी और पर-पुरुष के निमित्त से उत्पन्न संतान दुःखदायी होती है; उसीप्रकार यह पर के लक्ष्य से उत्पन्न रागादि भाव, क्रोधादि भाव दुःख के कारण हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं अज्ञानी जीव अज्ञानवश क्रोधादि आस्रव भावों से अपने आपको अभेद मानते हुए कहते हैं कि – 'मैं क्रोधी हूँ, मैं मानी हूँ।' जब जीव इसप्रकार अपने आप को क्रोध आदि से अभेद मानने लगता है, तब उस जीव को द्रव्यकर्मों का आस्रव होता है।

संक्षेप में कहें तो परद्रव्य के लक्ष्य से उत्पन्न हुई राग की क्रिया, क्रोध आदि की क्रिया, विभावरूप क्रिया है। इन विभावरूप (वैभाविक) क्रियाओं और आत्मा में संयोग संबंध है, पर अज्ञानी जीव रागादि में ज्ञान के समान ही तादात्म्यसम्बन्ध मानकर अपनापन करने लगता है; यही इसकी सबसे बड़ी भूल है, अज्ञान है।

इसके पश्चात् 70वीं गाथा में अज्ञान के फल स्वरूप हमारे जीवन में पड़ने वाले प्रभावों को बताया जा रहा है।

●

ज्ञानानन्दस्वरूपी सर्वज्ञ स्वभावी भगवान आत्मा रागादि विकार तथा ज्ञानावरणादि जड़ कर्मों का कर्ता नहीं है। उसे रागादि विकार व जड़ कर्मों का कर्ता मानना अज्ञान है, मिथ्या है, असत्य है। मात्र जानना ही जिसका स्वभाव है; वह आत्मा रागादि को जानता ही है, रागादि को करता नहीं। अतः रागादि का ज्ञाता कहना- यहाँ तक तो ठीक, परंतु उसे रागादि का कर्ता मानना तो महा विपरीतता है, अज्ञान है। भाई! दया-दान आदि का मैं कर्ता और दया-दान आदि भाव मेरे कर्म तथा उस समय बंधने वाले पुण्य कर्म भी मेरे कर्म हैं- ऐसी मान्यता **अज्ञान** है। –प्रवचन रत्नाकर भाग-3 , पृष्ठ 18

गाथा 70

कोहादिसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदी।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरिसीहिं ।।70।।

पद विच्छेद :– जीवस्स+एवं ; सव्व–दरिसीहिं ।

शब्दार्थ :– कोहादिसु = क्रोधादिक में; वट्टंतस्स = प्रवर्तमान (लगा हुआ, प्रवर्तता हुआ); तस्स = उसके; कम्मस्स = कर्म का; संचओ = बंध; होदी = होता है; जीवस्स = जीव के; एवं = इस प्रकार; बंधो = (कर्मों का) बंध; भणिदो = कहा है; खलु = वास्तव में; सव्वदरिसीहिं = सर्वदर्शी अर्थात् सर्वज्ञ देवों ने।

संदर्भ :– आचार्य कुन्दकुन्द अज्ञानी जीव के अज्ञान का फल और कर्मबंध का मूल कारण बताते हुए इस गाथा में कहते हैं कि –

अर्थ :– जब अज्ञानी जीव क्रोध आदि में अभेदरूप से प्रवृत्ति करता है, तब उसे द्रव्यकर्मों का बंध होता है। निश्चय से सर्वज्ञदेव ने बंध का यही स्वरूप कहा है, यही प्रक्रिया बताई है।

व्याख्या :– इस गाथा में आचार्यदेव कह रहे हैं कि – जब तक अज्ञानी जीव अज्ञानवश आस्रवभावों में अपनत्व करता रहेगा, तब तक उसे बंध होता रहेगा, वह संसार में घूमता हुआ दुःखी होता रहेगा। जीव की विभावभावों में नि:शंक (अपनत्व) प्रवृत्ति ही बंध का मूल कारण है। आत्मा के भावबंध का निमित्त पाकर पौद्गलिक कार्माणवर्गणायें स्वयं अपने आप ही द्रव्यकर्मरूप परिणमित होकर जीव से बंध जाती हैं अर्थात् जीव व द्रव्यकर्मों का बंध हो जाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इन दो गाथाओं में भावास्रव, भावबंध, द्रव्यास्रव और द्रव्यबंध – चारों का कारण बता दिया गया है। आस्रव और बंध में पुण्यास्रव, पुण्यबंध, पापास्रव और पापबंध चारों समान रूप से समाहित हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि बंध का एकमात्र कारण हमारा अज्ञान ही है। ज्ञानादि के समान ही रागादि में अपनापन होना अज्ञान है। इस अज्ञान से ही बंध होता है, फलस्वरूप संसार में परिभ्रमण होता है।

इसप्रकार इन दो गाथाओं में अज्ञानी की प्रवृत्ति और उसका फल बताकर आगामी गाथा 71वीं में सम्यग्ज्ञानी जीव की मुख्यता से बंध से बचने का उपाय बतलाते हैं। ●

सम्बन्ध तीन प्रकार के होते हैं।

1. तादात्म्य संबंध – ज्ञान और आत्मा में तादात्म्यसिद्ध संबंध है तथा दोनों का अभेद भाव से परिणमन होना धर्म है।

2. संयोगसिद्ध संबंध – राग व आत्मा में संयोगसिद्ध संबंध है– दोनों को एक मानकर परिणमन करना अज्ञान है।

3. एकक्षेत्रावगाह (परस्पर–अवगाहसिद्ध) संबंध – कर्म व आत्मा में एकक्षेत्रावगाह संबंध है। एकक्षेत्र में साथ रहने को एकक्षेत्रावगाह संबंध कहते हैं। जीव के परिणामों का निमित्त पाकर कर्म के पुद्गल एकक्षेत्रावगाह रूप से रहते हैं, तथापि भाव से सर्वथा भिन्न हैं। एक क्षेत्र में रहते हैं, अतः परस्पर अवगाह जिनका लक्षण है– ऐसे संबंध विशेष को बंध कहते हैं अर्थात् कर्म और आत्मा परस्पर एक क्षेत्र में व्याप्त होकर रहते हैं– ऐसा संबंधरूप होना ही **बंध** है। जीव और पुद्गल के बंध में इतरेतराश्रय दोष नहीं हैं; क्योंकि इसमें अनादि प्रवाहपना है। एक से दूसरा और दूसरे से पहला– इसे **इतरेतराश्रय दोष** कहते हैं। जैसे– जीव के राग परिणाम के बंध और फिर इसी बंध से वही राग परिणाम हो तो इतरेतराश्रय दोष होता है, परंतु उक्त बंध में यह इतरेतराश्रय दोष नहीं है।

–प्रवचनरत्नाकर भाग–3, गाथा 67–70, पृष्ठ 37 के आधार से

गाथा 71

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से।।71।।

शब्दार्थ :– जइया = जब; इमेण = इस; जीवेण = जीव के द्वारा; अप्पणो = आत्मा का; य = और; आसवाण = आस्रवों का; तहेव = इसीप्रकार; णादं = ज्ञात; होदि = होता है; विसेसंतर= विशेष अंतर है[1], भेदज्ञान; तइया = तब; ण = नहीं; बंधो = बंध; से = उसको (जीव को)।

संदर्भ :– आस्रव और बंध के अभाव की विधि बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि –

अर्थ :– जब यह जीव आत्मा और आस्रवों का विशेष अंतर जानता है, भेदज्ञान करता है; तब उसे बंध नहीं होता है।

व्याख्या :– इस गाथा में कहा गया 'विशेष अन्तर-भेद' पद महत्वपूर्ण है, ध्यान देने योग्य है। विशेष शब्द बताता है कि किसी भी विषय के भेद दो प्रकार से जान सकते हैं – (1) सामान्यरूप से और (2) विशेषरूप से।

जब किसी भी विषय के संबंध में सामान्यरूप से भेद जानते हैं, तो अंशत: निवृत्ति होती है और जब विशेषरूप से भी भेद जान लेते हैं, तो उससे पूर्णत: निवृत्त हो जाते हैं। जैसे – जब तक हम 'कोरोना वायरस' से होने वाली बीमारी और फ्लु में सामान्यरूप से भेद जानते रहे, तब तक सामान्यरूप से बचने के उपाय करते रहे और जब उन दोनों के बीच के भेद को विशेषरूप से जाना, तो उससे बचने के विशेष उपाय के तौर पर बाह्य समस्त प्रवृत्ति बंद कर अपने घर तक ही सीमित रह गए। बस

---
1. तात्पर्यवृत्ति टीका – विशेषांतरं भेदज्ञानम्

'आस्रव' भी 'कोरोना वायरस' जैसी दुःख देने वाली बीमारी है। उससे बचने के लिए भी हमें वही उपाय करना है अर्थात् बाह्य समस्त प्रवृत्ति से निवृत्ति कर अपने घर में, अपने ही आत्मा में, अपने में, स्वयं तक ही सीमित रहना है। अपने में सीमित रहने पर, स्थित होने पर, बंध से निवृत्ति हो जाएगी ।

आत्मा को 'स्व' और क्रोध आदि 'पर' भावों को उन-उन के लक्षण, स्वभाव आदि विशेषों द्वारा जान लेना ही भेदज्ञान है। आत्मा और आस्रवों के इस विशेष भेद को जानने को ही **भेदविज्ञान** कहते हैं।

भेदज्ञान होने पर जीव को बंध नहीं होता है। यही कारण है कि - बंध से परिपूर्ण निवृत्ति के लिए आचार्यदेव 72वीं गाथा में आत्मा और आस्रव के सामान्य भेद को और 74वीं गाथा में विशेष भेद को समझा रहे हैं।

संक्षेप में कह सकते हैं कि बंध का निरोध आत्मा और आस्रव के भेदविज्ञान से होता है। भेदविज्ञान के लिए आस्रव और आत्मा के स्वरूप को जानना अनिवार्य है। अत: आगामी 72वीं गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द क्रमश: आस्रव के स्वरूप और आस्रवों से निवृत्ति के कारण का वर्णन करते हैं। ●

1. **तादात्म्यसंबंध-** जो निश्चय से सभी अवस्थाओं में स्वरूपपने से व्याप्त हो तथा उस स्वरूपपने की व्याप्ति से रहित नहीं हो, उनका तादात्म्यलक्षण संबंध होता है। जिसप्रकार ज्ञान के साथ आत्मा का तादात्म्यलक्षण संबंध है; क्योंकि आत्मा की सर्व अवस्थाओं में वह ज्ञानस्वरूप में व्याप्त रहता है और आत्मा कभी भी ज्ञानस्वरूपपने की व्याप्ति से रहित नहीं होता। रागादिरूप उदयभाव के साथ आत्मा का तादात्म्यलक्षण संबंध नहीं है; क्योंकि आत्मा सर्व अवस्थाओं में उदयभाव के साथ व्याप्त नहीं रहता।
प्रवचन रत्नाकर भाग-2, पृष्ठ 323, अंतिम पैराग्राफ।

गाथा 72

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो।।72।।

शब्दार्थ :– णादूण = जानकर; आसवाणं = आस्रवों की; असुचित्तं = अशुचिता; च = और; विवरीय भावं = विपरीतता; दुक्खस्स = दुःख के; कारणं = कारण; ति = ऐसा; तदो = उनसे; णियत्तिं = निवृत्ति; कुणदि = करता है।

संदर्भ :– इस गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द आस्रवों के दुःखदायी स्वरूप का चित्रण करते हुए कहते हैं कि–

अर्थ :– आस्रवभाव आत्मा के स्वभाव के विपरीतभाव हैं, अपवित्र हैं और दुःख के कारण हैं। इसप्रकार जब जीव आस्रवों के स्वभाव को जान लेता है, तब उनसे निवृत्ति करता है।

व्याख्या :– इस गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द ने आस्रव के उस स्वरूप की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है, जिससे हम सभी सर्वाधिक बचना चाहते हैं। यह मानव मात्र का सहज स्वभाव है कि वे मलिन, अपवित्र वस्तुओं को छोड़ देते हैं, पवित्र को अपनाते हैं; अपने स्वभाव के विपरीत वस्तुओं, व्यक्तियों से दूर अपने अनुकूल वस्तुओं, व्यक्तियों के साथ रहना चाहते हैं और दुःखदायक सभी पदार्थों को छोड़कर सुखदायक पदार्थों को अपनाते हैं। जैसे – नरेश को दूध पीता देखकर विवेक ने कहा – अरे! नरेश!! तुम जो दूध गाय का पौष्टिक दूध समझकर पी रहे हो, वह यूरिया से बना है, अपवित्र है। यह पौष्टिक भी नहीं है, केमिकल मिले हैं; अतः अनेक बीमारियों को उत्पन्न करने वाला है।

इसप्रकार दूध की अपवित्रता, अशुचिता, हानिकारकता और दुःखकारणता का पता चलते ही नरेश वह दूध तुरन्त छोड़ देता है; वैसे

ही जब जीव को ज्ञानी गुरू के निमित्त से पता चलता है कि आस्रव भाव अपवित्र हैं और आत्मा परमपवित्र है, आस्रव जड़ हैं और आत्मा चेतन है तथा आस्रव दुःख के कारण हैं और आत्मा दुःख का कारण नहीं, सुख का कारण है; तब आस्रव भावों की मलिनता, विपरीतता और दुःखकारणता ख्याल में आते ही अज्ञानी उससे निवृत्त हो जाता है अर्थात् आस्रवों का स्वरूप जानना ही उससे निवृत्ति का उपाय है।

हमें यह बात ध्यान देने योग्य है कि यहाँ संपूर्ण ही आस्रव भावों को अपवित्र कहा है, जड़ कहा है; दुःख का कारण कहा है अर्थात् पापास्रवों के समान पुण्यास्रव को भी दुःख का कारण बताया है; क्योंकि सभी आस्रवभाव आत्मस्वभाव के घातक हैं। जिसप्रकार पीपल और लाख में वध्य-घातक संबंध है; उसीप्रकार आत्मा और आस्रवों में भी वध्य-घातक संबंध है। आत्मा वध्य है और आस्रव घातक हैं।

यद्यपि लाख पीपल में ही पैदा होती है; पीपल का ही अंग है, अंश है; तथापि वह पीपल की घातक होने से पीपल नहीं है। उसीप्रकार आस्रवभाव भी आत्मा में ही पैदा होते हैं, आत्मा की ही विकारी पर्याय हैं; तथापि आत्मस्वभाव के घातक होने से आत्मा नहीं हैं।

यहाँ आत्मा के घात से तात्पर्य आत्मा के स्वभाव पर्याय को प्रगट नहीं होने देना है अर्थात् जब तक आस्रव भावों का अभाव नहीं होगा, तब तक संवर नहीं होगा - यही आत्मा का घात है।

इसप्रकार जब जीव आत्मा और आस्रवों का विरुद्ध स्वभावत्व जान लेता है, भेदज्ञान कर लेता है, तो वह आस्रवों से निवृत्त हो जाता है। अतः भेदज्ञान से ही बंध का निरोध संभव है।

अब प्रश्न उठता है कि आस्रवों से विरुद्ध स्वभाव वाले आत्मा का स्वरूप क्या है? बंध का नाश कैसे होता है ? - इनका समाधान आचार्यदेव अगली 73 वीं गाथा में करते हैं। ●

गाथा 73

अहमेक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो ।
तम्हि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि ।।73।।

पद विच्छेद :– अहं+एक्को; णाण–दंसण–समग्गो; तत्+चित्तो ।

शब्दार्थ :– अहं = मैं; एक्को = एक हूँ; खलु = निश्चय से; सुद्धो = शुद्ध हूँ; णिम्ममओ = ममतारहित हूँ; णाण–दंसण–समग्गो = ज्ञान–दर्शन से पूर्ण हूँ; तम्हि = उसमें; ठिदो = स्थित होना, आत्मा को प्रथम समय में जानना; तत् चित्तो = उसमें लीन होना, आत्मा को जानते रहना; सव्वे = सभी भावों का अर्थात् भावास्रव, द्रव्यास्रव, भावबंध और द्रव्यबंध का; एदे = इन; खयं = क्षय को; णेमि = प्राप्त करता हूँ।

संदर्भ :– इस गाथा में आत्मा का स्वरूप और उसे जानने का फल बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि –

अर्थ :– निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममता रहित हूँ और ज्ञान–दर्शन से पूर्ण हूँ। इसप्रकार के आत्मस्वभाव में स्थित होता हुआ, उसी में लीन होता हुआ मैं इन सभी भावों (भावास्रव , द्रव्यासव, भावबंध, और द्रव्यबंध) का नाश करता हूँ।

व्याख्या :– इस गाथा में आत्मा के स्वरूप का कथन है और गाथा 38 में भी आत्मा के स्वरूप का कथन है। 38वीं गाथा में अरूपी विशेषण द्वारा रूपी पुद्‌गल एवं स्पष्ट भिन्न परपदार्थों से भिन्नता की चर्चा की गयी है और इस गाथा में 'निर्मम'[1] विशेषण द्वारा ममत्व रूप अंतरंग परिणामों से रहितता की चर्चा है।

एक, शुद्ध, ज्ञान–दर्शनमय यह तीन सकारात्मक (Positive)

---

1. 'निर्मम' विशेषण से यहाँ 36–37 वीं गाथा में बताई गई 'मोह निर्ममता व धर्मादि निर्ममता' दोनों ही ग्रहण करना चाहिए।

विशेषण तो दोनों गाथाओं में समान है; किन्तु नकारात्मक (Negative) विशेषण में भिन्नता है।

यह अंतर इसलिए आया है कि वहाँ अजीव द्रव्य से भिन्नता बताई जा रही है और यहाँ मोहादि आस्रव भावों के नाश की विधि बताई जा रही है। जिसका नाश करना है, उससे भिन्नता जानना अत्यावश्यक है। अतः इसमें ज्ञानी के चिंतन को बताते हुए समस्त आस्रवों के नाश की विधि भी बता दी गई है। इस गाथा की दोनों पंक्तियों के वर्ण्य विषय की भिन्नता को हम निम्नप्रकार समझ सकते हैं –

(1) प्रथम पंक्ति में आत्मा का स्वरूप, अपना निज स्वरूप बताया है।

द्वितीय पंक्ति में उस स्वरूप में स्थिर होने का, लीन होने का फल बताया है, महिमा बताई है।

(2) प्रथम पंक्ति में द्रव्य स्वभाव की बात है।

द्वितीय पंक्ति में निर्मल पर्याय की बात है।

(3) प्रथम पंक्ति में नव तत्त्वों में से निज आत्म तत्त्व की बात है।

द्वितीय पंक्ति में नव तत्त्वों में से आस्रव-बंध, पुण्य-पाप के निवृत्ति की विधि है।

(4) प्रथम पंक्ति में दृष्टि के विषयभूत आत्मा का स्वरूप है, जीव तत्त्व की चर्चा है।

द्वितीय पंक्ति में आस्रवादि के अभावरूप संवर, निर्जरा, मोक्ष तत्त्व की बात है।

(5) प्रथम पंक्ति में आत्मा का पारमार्थिक स्वरूप स्पष्ट किया है।

द्वितीय पंक्ति में आस्रवों के क्षय का एकमात्र उपाय बताया है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इस गाथा की प्रथम पंक्ति में अपना स्वरूप बताया है और दूसरी पंक्ति में अपने को दुःख देने वाले (आस्रव, बंध) तत्वों के नाश की विधि बतायी गयी है। अतः यह गाथा अत्यंत महत्वपूर्ण है।

इस गाथा की विशेष बात यह है कि इसमें आचार्यदेव उत्तम पुरुष (first person) में बात करते हैं। उन्हें स्वयं को तो आत्मा में ही एकत्व है, अपनापन है; अतः जब आत्मा के स्वरूप की बात आई तो वे सहज ही कह उठे कि – मैं तो एक हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञान–दर्शन से पूर्ण हूँ। जब मैं अपने इस स्वभाव में लीन होता हूँ; तब आस्रवों को, बंध को और पुण्य–पाप आदि सभी भावों को नष्ट करता हूँ।

दूसरी तरफ यह कहकर वे हमें भी संदेश देना चाहते हैं कि आत्मा की चर्चा–वार्ता तुम भी ऐसे न करो जैसे किसी 'पर' की बात कर रहे हो। तुम भी आत्मा की चर्चा अपनी चर्चा समझ कर करो। जब तुम्हें स्वयं को जानने में आनंद का अनुभव होगा, तब तुम अपने में ही लीन रहोगे; तो तुम्हारे भी आस्रव, बंध आदि सभी भाव नाश को प्राप्त हो जायेंगे।

यहाँ विशेष बात ध्यान देने की यह है कि जिसप्रकार 72वीं गाथा में कहा था कि आस्रव अपवित्र हैं, दुःख के कारण हैं, उसीप्रकार यहाँ नहीं कहा कि आत्मा पवित्र है, सुख का कारण है; क्योंकि इसप्रकार के कथन में भिन्नता की भिनभिनाहट नज़र आती है।

'एदे सव्वे' कहकर आचार्य कुन्दकुन्द ने इसमें पापास्रव, पापबंध के साथ–साथ पुण्यास्रव और पुण्यबंध – सभी को समाहित कर लिया है; क्योंकि पाप के समान पुण्य भी बंध का ही कारण है, मोक्ष का नहीं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जब यह आत्मा अपने एक, शुद्ध, निर्मम और ज्ञान–दर्शन से परिपूर्ण आत्मस्वभाव में स्थित होता है, लीन होता है, तो आस्रव भावों से सहज ही निवृत्त हो जाता है। आस्रव

न होने से बंध का भी निरोध हो जाता है।

आत्मस्वभाव में स्थित होने का अर्थ है – आत्मस्वभाव को प्रत्यक्ष ज्ञान का ज्ञेय बनाना, प्रत्यक्ष जानना और लीन होने का अर्थ है – उसी को जानते रहना, उसी में तन्मय हो जाना; तन्मय होकर जानते रहना। स्थित होना और लीन होना – दोनों ही आत्मानुभूतिरूप हैं, शुद्धोपयोगरूप हैं; क्योंकि **प्रथम समय में जिसे स्थित होना कहते हैं, द्वितीयादि समयों में उसी दशा को लीन होना कहते हैं।** अनन्तगुणों का आत्मसन्मुख होकर, उसी में तदाकार हो जाना ही स्थित होना, लीन होना है और वही आस्रवभावों के क्षय का कारण है। तात्पर्य यह है कि आत्मानुभूति और शुद्धोपयोग ही कर्मक्षय के मुख्य हेतु हैं।[1]

चूँकि पहले उपयोग परपदार्थों से हटकर आत्मा की ओर आता है, अतः स्थित होने का कारण परद्रव्यों में प्रवृत्ति से निवृत्ति को बताया और लीनता में बाधक होती है उपयोग की चंचलता; अतः परद्रव्यों के निमित्त से आत्मा में होने वाले विकल्पों के निरोध को लीनता का हेतु बताया है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आत्मा में स्थिर हुए बिना जीव सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी नहीं होता। आत्मानुभव ज्ञानी होने की अनिवार्य आवश्यकता है और आत्मा में लीनता बिना केवलज्ञान नहीं हो सकता। अतः **बंध के नाश के लिए आत्मानुभूति जरूरी है** और आत्मानुभूति के लिए आत्मा का शुद्ध स्वरूप जानना अत्यंत आवश्यक है। यही शुद्ध स्वरूप इस गाथा में बताया गया है।

इसके पश्चात् 74 से 78 तक की 5 गाथाओं में आत्मानुभूति संपन्न सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव की प्रवृत्ति को विस्तार से बताया गया है। जिसमें आचार्य कुन्दकुन्द सर्वप्रथम74वीं गाथा में आस्रवों से निवृत्ति का कारण व फल बताते हैं। ●

1. समयसार अनुशीलन भाग 2 , गाथा 73, पृष्ट 41

गाथा 74

जीवणिबद्धा एदे अधुव अणिच्चा तहा असरणा य।
दुक्खा दुक्खफल त्ति य णादूण णिवत्तदे तेहिं।।74।।

पद विच्छेद :– जीव–णिबद्धा; दुक्ख–फल।

शब्दार्थ :– जीव–णिबद्धा = जीव के साथ निबद्ध (बंधे) हैं; एदे = ये आस्रव; अधुव = अध्रुव हैं (बढ़ते–घटते होने से); अणिच्चा = अनित्य हैं (अनुक्रम से उत्पन्न होने से); तहा = तथा; असरणा = अशरण हैं; य = और; दुक्खा = दुःखरूप हैं; दुक्ख–फल = दुःख ही जिनका फल है; त्ति = ऐसा; णादूण = (ज्ञानी) जानकर; णिवत्तदे = निवृत्त होता है; तेहिं = उनसे।

संदर्भ :– आस्रवों का स्वरूप और उसे जानने का फल बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि –

अर्थ :– जीव के साथ निबद्ध सभी आस्रवभाव अध्रुव हैं, अनित्य हैं, अशरण हैं, दुःखरूप हैं और दुःख के रूप में फलते हैं – ऐसा जानकर जीव उनसे निवृत्त होता है।

व्याख्या :– गाथा 71 में कहा था कि जब जीव आत्मा और आस्रव का विशेष भेद जान लेता है, तब उसे बंध नहीं होता। इस गाथा में वह विशेष भेद बताकर कहा गया है कि आत्मा और आस्रवों के विशेष भेद को जानकर ज्ञानी आस्रवों से निवृत्त हो जाता है।

इसप्रकार इस गाथा में आस्रवों से निवृत्ति की प्रमुख प्रेरणा का भी ज्ञान करा दिया है। जीवों को आस्रवभाव के दुःखों की सघन अनुभूति ही उनसे निवृत्ति की प्रबल प्रेरणा है।

सभी जीवों का यह सहज स्वभाव है, कि वह जिन वस्तुओं, पदार्थों, व्यक्तियों या परिस्थितियों को दुःखस्वरूप, दुःख का कारण

मानते हैं; उससे दूर रहना चाहते हैं, बचना चाहते हैं, उनको दूर करने का उपाय भी करते हैं। यही कारण है कि आचार्यदेव इस गाथा में आस्रवों की दुःखमयता को विस्तार से समझा रहे हैं। जैसे – जब जिसने 'कोरोना' वायरस (प्राणघातक बीमारी फैलाने वाला एक प्रकार का जीव) को बीमारी का कारण जाना, तब उसने उससे बचने का उपाय किया अर्थात् मुँह पर पट्टी बांधी, हाथ धोए और अपने सभी कार्य दिनचर्या के अनुसार करते रहे; किन्तु जब उसके प्राणघातक स्वरूप को और फल को जाना कि यह न केवल मेरे लिए ही, अपितु मेरे पूरे परिवार के लिए भी प्राणघातक है और हमें पता ही नहीं चलेगा यह कब हमारे अंदर प्रवेश कर हमारे पूरे परिवार को चंद दिनों में मृत्यु के सन्निकट ले जाएगा – ऐसा ज्ञान होते ही, हम सभी उससे बचने के उपाय के फलस्वरूप अपने घर में ही सिमटकर रह गए। इसप्रकार हम सभी वर्तमान में देख रहे हैं, जान रहे हैं, अनुभव कर रहे हैं; कि जब हम किसी को दुःख का कारण, दुःखरूप और दुःख फलरूप जानते हैं; तो उसमें हमें तुरन्त ही हेय बुद्धि आ जाती है, अविलंब उसे छोड़ देते हैं और दुःखदायी परिस्थितियों से बचने का प्रयास करते हैं।

सभी जीवों के इस स्वभाव से परिचित आचार्यदेव कहते हैं कि – दुःखदायी होने से आस्रवभाव हेय हैं, त्याज्य हैं। जैसे जब हमें कोई वस्तु (हाथ में रखी अग्नि) दुःखदायी लगती है तो हम उसे तुरन्त छोड़ देते हैं, वैसे ही जब हमें आस्रवभाव वर्तमान में और भविष्य में दुःखदायी लगेंगे तो हम उन्हें तत्काल ही छोड़ देंगे।

72वीं गाथा में कहा था कि आस्रवभाव आत्मा से विपरीत स्वभाव वाले हैं, अतः 73वीं गाथा में आत्मा का स्वरूप बताने के पश्चात् अब इस गाथा में आत्मा और आस्रवों की विपरीतता बताते हुए कहा गया है कि आस्रव अध्रुव, अनित्य, अशरण, दुःखस्वरूप और दुःखों

के रूप में ही फलनेवाला है। इसके विपरीत आत्मा ध्रुव है, नित्य है, शरणभूत है, सुखस्वरूप है और सुख के रूप में ही फलनेवाला है।

यद्यपि लौकिक व्यवहार में अध्रुव और अनित्य को पर्यायवाची समझा जाता है, तथापि उसमें निम्नप्रकार सूक्ष्म अन्तर है - एक ही दिशा में रहकर घटना-बढ़ना अध्रुवता है और विपरीत दिशा में जाना अनित्यता है। जैसे - कभी कम सर्दी लगना, कभी अधिक सर्दी लगना अध्रुवता है और अनुक्रम से सर्दी मिटकर गर्मी लगना और गर्मी मिटकर सर्दी लगना अनित्यता है, वैसे ही तीव्र शुभ से मन्द शुभ और मन्द शुभ से तीव्र शुभ हो जाना अथवा मन्द अशुभ से तीव्र अशुभ, तीव्र अशुभ से मन्द अशुभ हो जाना आस्रवों की अध्रुवता है और क्षण में शुभ, क्षण में अशुभ होना आस्रवों की अनित्यता है।

क्षण में पुण्यास्रव, क्षण में पापास्रव हो जाना आस्रवभावों की अनित्यता है और पुण्यास्रवों में मंदता-तीव्रता होते रहना एवं पापास्रवों में मंदता-तीव्रता होते रहना अध्रुवता है।

आस्रवभावों में दोनों ही प्रकार की स्थितियाँ बनती हैं; अतः आस्रवभाव अध्रुव भी हैं और अनित्य भी हैं और आत्मा चैतन्यमात्र होने से ध्रुव है और विज्ञानघनस्वभावी होने से नित्य है। चैतन्यस्वभाव घटता-बढ़ता नहीं; अतः आत्मा ध्रुव है और विज्ञानघनस्वभाव बदलता नहीं है; अतः आत्मा नित्य है।

इसप्रकार आस्रवभाव और आत्मा परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले हैं, अतः भिन्न ही हैं, एक नहीं।

जिस कर्मोदय के निमित्त से जो आस्रवभाव होते हैं, उस कर्मोदय के समाप्त होते ही वे आस्रवभाव भी नष्ट हो जाते हैं, उन्हें नष्ट होने से रोका नहीं जा सकता; अतः वे अशरण हैं, उन्हें कोई शरण नहीं है। अपने स्वभाव से ही स्वयं सुरक्षित जीव ही शरणभूत है; क्योंकि

उसकी सहज चैतन्यशक्ति का नाश संभव नहीं है । अतः आत्मा परम शरणभूत है।

यह आस्रवभाव वर्तमान में तो दुःख देते ही हैं और इनका निमित्त पाकर जो कर्म बंधेंगे, उन कर्मों का भविष्य में जब उदय आवेगा, तब उसके निमित्त से जो राग-द्वेष होंगे तथा अनेक प्रकार की प्रतिकूलताएँ होंगी, उनके भी दुःखरूप होने से ये आस्रवभाव आगामी दुःखों के भी कारण हैं। अतः यह दुःखस्वरूप ही हैं।

आस्रव भाव दो प्रकार के होते हैं- पापास्रव और पुण्यास्रव। अज्ञानीजन पापास्रव को हेय और पुण्यास्रव को उपादेय समझते हैं, मानते हैं ; किंतु ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ दोनों ही प्रकार के आस्रवभावों को अध्रुव, अनित्य, अशरण, दुःखरूप और दुःखों का कारण बताया जा रहा है। तात्पर्य यह है कि पुण्यभाव भी, शुभभाव भी अध्रुव, अनित्य और अशरण तो हैं ही, दुःखरूप भी हैं और दुःखों के कारण भी हैं। पुण्य और पाप दोनों ही भाव संसार परिभ्रमण के कारण होने से समान ही हैं। दोनों ही भाव आस्रवभाव होने से आत्मा के स्वभाव के विरुद्ध भाव हैं; इसकारण वे आत्मा नहीं हो सकते और इसीकारण हेय हैं, उपादेय नहीं ।

इसप्रकार हम देखते हैं कि 72वीं गाथा में जिन आस्रवभावों को दुःख का कारण कहा गया था, उन्हें ही इस गाथा में दुःखमय और दुःखदायी कह रहे हैं। यहाँ दोनों प्रकार के (पुण्यास्रव और पापास्रव) आस्रव भावों को संसार परिभ्रमण का कारण होने से समान कहा गया है, दुःखों का कारण और दुःखरूप कहा गया है; इसलिए जो जीव दोनों प्रकार के आस्रव भावों से निवृत्त होकर ज्ञान स्वभाव में स्थित हो जाते हैं, वे ही ज्ञानी सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं और जो ज्ञान स्वभाव में लीन हो जाते हैं, वे केवलज्ञानी हो जाते हैं।

आस्रव दुःखरूप है और आत्मा सुखस्वरूप है तथा आस्रव दुःखों के कारणभूत कर्मों के बंधन के कारण हैं और आत्मा किसी भी कर्मबंध का कारण नहीं है। इसप्रकार जब यह जीव, आत्मा और आस्रवों के बीच उक्त भेद जानकर ज्यों–ज्यों और जितना–जितना ज्ञान में लीन (विज्ञानघन) होता जाता है, त्यों–त्यों और उतना–उतना आस्रवों से निवृत्त होता जाता है तथा ज्यों–ज्यों और जितना–जितना आस्रवों से निवृत्त होता जाता है, त्यों–त्यों और उतना–उतना ज्ञान में लीन होता जाता है। जिसप्रकार प्रकाश होने का और अंधकार जाने का समकाल (एक काल) है, उसीप्रकार ज्ञान के होने और आस्रवों की निवृत्ति का समकाल है ।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आत्मा और आस्रवों में न केवल स्वभाव भिन्नता है, अपितु फल विपरीतता भी है; अतः इन दोनों के बीच भेदज्ञान करना आवश्यक है। जब जीव इन दोनों के स्वभाव और फल को सही–सही जान लेगा, तो स्वयं ही आस्रव से निवृत्त हो जाएगा।

इसप्रकार हम देखते हैं कि 69 से 74 तक की छः गाथाओं में यह सिद्ध किया गया है कि जब तक यह जीव आत्मा और आस्रवों के भेद को नहीं जानेगा, तब तक कर्म का बंध होगा और जब जीव इन दोनों की भिन्नता आत्मानुभूति पूर्वक जान लेगा; तब बंध का निरोध हो जाएगा अर्थात् ज्ञान ही एकमात्र ऐसा साधन है जिससे कर्म के बंध का निरोध होगा।

इसे समझकर जीवन में अपनाकर कुछ लोग आत्मानुभूति कर लेते हैं। अतः उन लोगों के लिए यह गाथा पड़ाव हो सकती है। यह समयसार का **11वाँ पड़ाव** है।

इसके पश्चात् 75वीं गाथा में आस्रवों से निवृत्त ज्ञानी व्यक्ति की सहज प्रवृत्ति और स्वरूप बताया जा रहा है। ●

गाथा 75

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी।।75।।

पद विच्छेद :– एयम+आदा।

शब्दार्थ :– कम्मस्स = भावकर्म और द्रव्यकर्म के; य = जो; परिणामं = परिणाम को; णोकम्मस्स = नोकर्म के; तहेव = इसीप्रकार; ण = नहीं; करेइ = करता; एयम = इस (कर्म के परिणाम को); आदा = आत्मा; जाणदि = स्वसंवेदन ज्ञान से जानता है; सो = वह; हवदि = है; णाणी = सम्यग्ज्ञानी।

संदर्भ :– ज्ञानी का स्वरूप बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि –

अर्थ :– जो आत्मा भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म के परिणाम को करता नहीं है, मात्र जानता है; वह ज्ञानी है।

व्याख्या :– इस गाथा में ज्ञानी जीव की परद्रव्य के कर्तृत्व संबंधी मान्यता का सामान्य कथन किया जा रहा है तथा 76–77 गाथाओं में इसी का विशेष कथन किया जायेगा।

आत्मा पर पदार्थों के साथ 4 प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करता है एकत्वबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि और भोक्तृत्वबुद्धि।

चारों बुद्धि में से एकत्वबुद्धि और ममत्वबुद्धि की चर्चा गाथा 19 – 74 तक विस्तार से की गई है। जिनमें कहा गया है कि जो जीव द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म में अपनापन स्थापित करता है, एकत्व–ममत्व करता है, वह अज्ञानी है और ज्ञानी की पहिचान बताते हुए इस गाथा में कहा है कि – जो सभी कर्मों (भावकर्मों, द्रव्यकर्मों, नोकर्म) में कर्तृत्वबुद्धि

नहीं करता, मात्र स्वसंवेदन ज्ञान से शुद्धात्मा को जानता है, वह ज्ञानी है, सम्यग्ज्ञानी है; अर्थात् जो जीव शुद्ध–आत्मा का अनुभव कर लेता है, उसे पर पदार्थों में फेरफार करने का विकल्प नहीं होता है। उसे दृढ़ श्रद्धान हो जाता है कि मैं परपदार्थों, परभावों में कुछ नहीं कर सकता।

जिसप्रकार मिट्टी घड़े को उपादानरूप से करती है, उसीप्रकार कर्म तथा नोकर्म के परिणाम को पुद्गल द्वारा उपादान कारण रूप से किया जाता होने से आत्मा नहीं करता है अर्थात् आत्मा भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म के परिणामों का कर्ता नहीं है, **उपादानकर्ता** नहीं है। इसप्रकार जो जानता है, वह ही ज्ञानी होता है।

जिसप्रकार स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, बंध, संस्थान आदि **पुद्गल परिणाम** हैं; उसीप्रकार मोह, राग, द्वेष आदि भी पुद्गल परिणाम हैं और इनका कर्ता–भोक्ता निश्चय से पुद्गल ही है, आत्मा नहीं। हाँ, आत्मा इनके ज्ञान का कर्ता अवश्य है, पर इनका नहीं; क्योंकि इनका ज्ञान आत्मा का ही परिणाम है, इस कारण आत्मा इनके ज्ञान का कर्ता है; इसलिए जिस परद्रव्य या परभाव का ज्ञान होता है, वह परद्रव्य या परभाव आत्मा का कर्म नहीं हो सकता, बल्कि उस परद्रव्य या परभाव का ज्ञान आत्मा का कर्म (कार्य) होता है और आत्मा उस ज्ञान का कर्ता होता है अर्थात् जानना आत्मा का कर्म है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि यह आत्मा पुद्गल परिणाम के ज्ञान का कर्ता होने पर भी पुद्गल परिणाम का कर्ता नहीं है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि पर का कर्ता ज्ञानी–अज्ञानी कोई नहीं है; क्योंकि कर्ता–कर्म भाव वहाँ ही बनता है जहाँ व्याप्य–व्यापक भाव बनता है। व्याप्य–व्यापक भाव तत् स्वरूप (अभिन्न सत्ता वाले पदार्थ) में ही होता है, अतत् स्वरूप (जिनकी सत्ता भिन्न–

भिन्न है ऐसे पदार्थों) में नहीं । जीव और पुद्गल अतत् स्वरूप वाले प्रसिद्ध हैं, अतः उनमें व्याप्य-व्यापक भाव नहीं बन सकता । व्याप्य-व्यापक भाव के अभाव में कर्ता-कर्म भाव भी नहीं बन सकता। जैसे – राग और आत्मा में व्याप्य-व्यापकता नहीं है अर्थात् आत्मा व्यापक और राग उसका व्याप्य ऐसा नहीं है; क्योंकि दोनों भिन्न वस्तुएँ हैं, अतत्स्वभावी वस्तुएँ हैं। अतः व्याप्य-व्यापक भाव के अभाव में इनमें कर्ता-कर्म भाव भी नहीं बन सकता है। परन्तु आत्मा और उसकी निर्मल पर्याय में व्यापक-व्याप्यपना है; क्योंकि वे दोनों अभिन्न हैं, तत्स्वभावी हैं। अतः आत्मा व्यापक व उसकी निर्मल पर्याय व्याप्य – – ऐसा व्यापक-व्याप्यपना होने से उनमें कर्ता-कर्म भाव भी बन सकता है। जिसप्रकार निर्मल पर्याय और आत्मा में व्याप्य-व्यापकपना है; उसीप्रकार स्पर्शादि और रागादिरूप पौद्गलिकभावों का व्याप्य-व्यापक संबंध पुद्गल से ही होने से उनका कर्ता पुद्गल ही है, आत्मा नहीं । हाँ, यह बात अवश्य है कि स्पर्शादि और रागादिभावों के ज्ञान के साथ आत्मा का व्याप्य-व्यापकभाव बन जाता है; अतः आत्मा उनके ज्ञान का कर्ता अवश्य है। वह ज्ञान वास्तव में तो आत्मा का ही है; क्योंकि वह आत्मा का परिणमन है, पुद्गल से उसका कोई संबंध नहीं है, पुद्गल को तो उसने मात्र जाना ही है, उसमें कुछ किया नहीं।

इसप्रकार हम देखते हैं जब एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य से कर्ता-कर्म संबंध संभव ही नहीं है, तब ज्ञानी-अज्ञानी कोई भी पर का कर्ता कैसे बन सकता है? अर्थात् **पर का कर्ता तो ज्ञानी-अज्ञानी कोई भी नहीं है, किन्तु पर के कर्तृत्व से ग्रस्त अज्ञानी अपने अज्ञान भाव का कर्ता अवश्य है।** ज्ञानी पर का कर्ता तो होता ही नहीं है; साथ में पर के लक्ष्य से होने वाले रागादि भावों का भी कर्ता नहीं होता, किन्तु वह **उन रागादि को जानने वाले ज्ञान का कर्ता अवश्य होता है।**

19वीं गाथा में अज्ञानी का स्वरूप बताते हुए एकत्वबुद्धि – ममत्वबुद्धि की बात की थी और यहाँ कर्तृत्वबुद्धि की बात कर रहे हैं अर्थात् वहाँ द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म में अहंबुद्धि, ममबुद्धि करने वालों को अज्ञानी कहा था और यहाँ द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म में कर्ता बुद्धि नहीं करने वालों को ज्ञानी बताया जा रहा है ।

कर्ता अर्थात कार्य रूप से परिणमित होने वाला । जो स्वतंत्र रूप से परिणमन करे उसे, कर्ता कहते हैं। जैसे– घड़ा बनने में मिट्टी स्वयं घड़े रूप कार्य में परिणमित होती है; अतः मिट्टी घड़े रूप कार्य का कर्ता है। इस **घड़े रूप कार्य में कुम्हार निमित्त है, निमित्त कर्ता नहीं;** क्योंकि कुम्हार स्वयं घड़े रूप परिणमित नहीं हुआ है।

ज्ञानी यह भेद जानते हैं, अतः परवस्तु में जो कार्य होता है, ज्ञानी उसके निमित्त कर्ता नहीं बनते। वे जानते हैं कि 'मैं तो मात्र निमित्त हूँ', निमित्त कर्ता नहीं। कार्य तो वस्तु में अपने उपादान की योग्यता से हुआ है। जैसे– आटे में रोटी बनने की योग्यता थी तो मैं उसमें निमित्त बन गया अथवा इस पाठक में समझने की योग्यता थी, तो मेरा लेखन निमित्त बन गया। किंतु अज्ञानी सोचता है कि मैंने रोटी बनाई, मैं नहीं बनाता तो क्या आटा अपने आप रोटी रूप परिणमित हो जाता? नहीं न, अतः मैं ही रोटी रूप कार्य का कर्ता हूँ। मैंने समझाया, तो तुम्हें समझ आया, नहीं तो पुस्तक तो तुमने कई बार पढ़ी, प्रवचन सुने; पर समझ नहीं आया। यहाँ ज्ञानी समझता है, वस्तुतः उस व्यक्ति के स्वयं की समझने की योग्यता का काल आया था; अतः मैं उसमें निमित्त बन गया।

यह गलती अज्ञानी से इसलिए होती है कि वह कारण–कार्य व्यवस्था और कर्ता–कर्म की सही परिभाषा नहीं समझता।

वस्तुतः कार्य होने में दो प्रकार के कारण होते हैं उपादान कारण व निमित्त कारण।

कार्य उपादान में निमित्त के सहयोग से होता है। शास्त्रों में जिसमें कार्य होता है, उसे कर्ता कहा जाता है। इस दृष्टि से उपादान कारण ही निश्चय से कारण हुआ, किंतु अज्ञानीजन जिनके सहयोग से कार्य हुआ – ऐसे निमित्त को निश्चय से कर्ता मान बैठते हैं, उन्हें उसमें कर्तापन का अहं आ जाता है; जो उनकी भूल है। व्यवहार में निमित्त की अपेक्षा उन्हें कर्ता कहा जा सकता है, पर वे वास्तविक कर्ता नहीं।

इसप्रकार हम देखते है कि द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म में चारों विपरीत बुद्धि वाले ही जीव अज्ञानी कहलाते हैं और इन्हीं (द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म) में चारों विपरीत बुद्धियों से रहित जीव ही ज्ञानी कहलाते हैं।

मोह–राग–द्वेषादि विकारी भावों और शरीरादि एवं देश–नगरादि संयोगों में चारों बुद्धि नहीं होना और इनके ज्ञाता–दृष्टा भाव से परिणमित होना ही ज्ञान है तथा इसप्रकार के ज्ञानभाव से परिणमित आत्मा ज्ञानी है। ज्ञानी की पहिचान का यही चिन्ह है, ज्ञानी इसी चिन्ह से पहचाने जाते हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि ज्ञानी भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म के परिणामों का (उपादान) कर्ता अपने आप को नहीं मानते; क्योंकि वे जानते हैं कि उनका (उपादान) कर्ता पुद्गलद्रव्य है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा में ज्ञानी की अपेक्षा परद्रव्य के कर्तृत्व के सन्दर्भ में सामान्य कथन किया गया है ।

इसके पश्चात् तात्पर्यवृत्ति में उपलब्ध छठवीं गाथा में आस्रवों से निवृत्त व्यक्ति की विशेष प्रवृत्ति और ज्ञानी की विशेष पहचान बताई जा रही है। ●

तात्पर्यवृत्ति गाथा 6

कत्ता आदा भणिदो ण य कत्ता केण सो उवाऐण ।
धम्मादी परिणामे जो जाणदि सो हवदि णाणी ।।

पद विच्छेद :– धम्म+आदी

शब्दार्थ :– कत्ता = कर्त्ता; आदा = आत्मा; भणिदो = कहा गया है; ण = नहीं; य = और; केण सो उवाऐण = किसी एक उपाय से अर्थात् नय विभाग से; धम्मादी परिणामे = धर्म–अधर्म आदि द्रव्य और पुण्य आदि परिणाम; जाणदि = जानता है; सो = वह; हवदि = है; णाणी = ज्ञानी।

संदर्भ :– इसमें ज्ञानी की विशेष पहचान बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि –

अर्थ :– किसी एक उपाय से आत्मा धर्मादि द्रव्य अथवा पुण्यादि परिणामों का कर्ता है और किसी एक उपाय (नयों की अपेक्षा) से आत्मा धर्मादि द्रव्य अथवा पुण्यादि परिणामों का कर्ता नहीं है – इसप्रकार जो जानता है, वह आत्मानुभवी ज्ञानी होता है।

व्याख्या :– इस गाथा में प्रयुक्त 'धम्मादि' पद के दो अर्थ किए जा सकते हैं। पहला धर्मादि द्रव्य और दूसरा पुण्यादि परिणाम।

इसी ग्रंथ की 37वीं गाथा में धम्मादि का अर्थ धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव द्रव्य किया गया है। जिसप्रकार उस गाथा में इन द्रव्यों से एकत्व–ममत्व बुद्धि का निषेध कर 'धर्म निर्ममता' की बात की है; उसीप्रकार इस गाथा में धर्मादि द्रव्यों से कर्तृत्व के निषेध की बात की गई है तथा पुण्यादि के अर्थ में भी धर्म का प्रयोग लौकिक में किया जाता ही है। अतः हमने दोनों ही अर्थों को इसमें लिया है।

धर्मादि द्रव्यों और पुण्यादि कार्यों के कर्तृत्व के संबंध में जीव की विशेष भूल होती है, अतः उसकी ओर विशेष ध्यान आकर्षित करते हुए इस गाथा में नय विभाग से आत्मा को कर्ता–अकर्ता बताते हुए

कहा है कि - आत्मा धर्मादि द्रव्यों और पुण्यरूप (शुभभाव रूप रागादि विकारी) भावों का कर्ता व्यवहारनय से ही है, निश्चयनय से उन भावों का कर्ता नहीं है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा में **निश्चयनय से जिन द्रव्यों और भावों का अकर्ता जीव को बताया गया है, व्यवहारनय से उन्हीं द्रव्यों और भावों का कर्ता कहा गया है।**

इसके पश्चात् 76 से 79 तक की तीन गाथाओं में अनेक दृष्टियों से ज्ञानी की प्रवृत्ति का चित्रण किया गया है। 80-83 तक की चार गाथाओं में सिद्ध किया गया है कि - एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य की पर्याय के साथ कर्ता-कर्म संबंध होना संभव नहीं है। इनमें आरंभ की तीन गाथाओं (80-82) में विभिन्न दृष्टिकोण से जीव को परद्रव्य के भावों का अकर्तृत्व सिद्ध किया गया है और गाथा 83 में पुद्गल को भी परद्रव्य के भावों का अकर्ता बताया है अर्थात् **जीव और पुद्गल दोनों ही एक दूसरे की पर्यायों के कर्ता नहीं हैं, यही जैनदर्शन का अकर्तावाद है।**

अब सर्वप्रथम आचार्यदेव 76वीं गाथा में पुद्गल कर्म को जानते हुए जीव को पुद्गल कर्म का अकर्ता सिद्ध कर रहे हैं। ●

'मैं पर का कर्ता हूँ और पर मेरे कर्ता हैं' इसप्रकार की मान्यता को **कर्तृत्वबुद्धि** कहते हैं। जैसे - मैंने व्यायाम से शरीर को संभालकर रखा है, मैं इस उम्र में भी शरीर से पूरा काम लेता हूँ - इसप्रकार अपने को अनेक प्रकार से शरीर की क्रिया का कर्ता मानना पुद्गलद्रव्य से बने शरीर में परिणमन कराने रूप कर्तृत्वबुद्धि है।

'मैं पर का भोक्ता हूँ और पर मेरे भोक्ता हैं' इसप्रकार की मान्यता को **भोक्तृत्वबुद्धि** कहते हैं। जैसे शरीर में होनेवाले सुख-दुःख तो हमें ही भोगने पड़ते हैं। यदि मैं बीमार हो जाऊँगा, तो तकलीफ मुझे ही भोगनी होगी- इसप्रकार अपने को अनेकप्रकार से शरीर की क्रिया का भोक्ता मानना पुद्गलमय परद्रव्य में भोक्तृत्वबुद्धि है।

गाथा 76

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्व पज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पोग्गलकम्मं अणेयविहं ।।76।।

पद विच्छेद :– परदव्व–पज्जाए ; पोग्गल–कम्मं ।

शब्दार्थ :– ण = नहीं; वि = भी; परिणमदि = परिणमित होता है; गिण्हदि = ग्रहण करता है; उप्पज्जदि = उत्पन्न होता है; परदव्व–पज्जाए = पर द्रव्य की पर्याय में; णाणी = भेदविज्ञानी सम्यग्दृष्टि; जाणंतो = (विशेष भेदज्ञान से) जानते हुए; हु = निश्चय से; पोग्गल–कम्मं = द्रव्यकर्म; अणेयविहं = (मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृति भेद से) अनेक प्रकार के।

संदर्भ :– 'पुद्गल को जानता हुआ जीव पर का कर्ता नहीं है' – इसे सिद्ध करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द इस गाथा में कहते हैं कि –

अर्थ :– ज्ञानी अनेक प्रकार के पुद्गलकर्म को जानता हुआ भी निश्चय से पर द्रव्य की पर्याय में परिणमित नहीं होता, उसे ग्रहण नहीं करता और उस रूप उत्पन्न नहीं होता ।

व्याख्या :– इस गाथा में कहा गया है कि पुद्गलद्रव्य को जानते हुए भी जीव और पुद्गल में कर्ता–कर्म संबंध नहीं है; क्योंकि उनमें व्याप्य–व्यापक संबंध का, तादात्म्य संबंध का अभाव है। जब जीव निश्चय से परद्रव्य की पर्याय रूप स्वयं परिणमित नहीं हो सकता, परद्रव्य को तन्मय होकर ग्रहण नहीं कर सकता और उसके आकाररूप उत्पन्न नहीं हो सकता; तो उनमें कर्ता–कर्म संबंध कैसे हो सकता है? जिसप्रकार आटा, रोटी में व्याप्त होकर रोटीरूप परिणमित होता है, रोटी के रूप में उत्पन्न होता है और रोटी को प्राप्त होता है; उसीप्रकार आत्मा, आत्मा से भिन्न परपदार्थों को न तो प्राप्त करता है, न उत्पन्न करता है और न उनरूप परिणमित ही होता है।

इसीप्रकार चेतन जीव जड़–पुद्‌गल को न तो उत्पन्न कर सकता है, न पुद्‌गल से परिणमन करा सकता है और न ही अमूर्त जीव मूर्त पुद्‌गल को ग्रहण ही कर सकता है। अतः जीव और पुद्‌गल में कर्ता–कर्म संबंध नहीं बन सकता है । वस्तुतः तो पुद्‌गल पौद्‌गलिक भावों का कर्ता है और आत्मा आत्मकृत परिणामों का, जानने स्वरूप भाव का कर्ता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि निश्चयनय से आत्मा वर्णादि और रागादि रूप पर का कर्ता नहीं है, मात्र उन्हें जानता–देखता है, ज्ञाता–दृष्टा है और वह अपने इस जाननेरूप क्रिया का कर्ता होता है।

संक्षेप में कहें तो आत्मा 'पर' क्रिया का कर्ता नहीं है, ज्ञान क्रिया का कर्ता है। क्रोधादिरूप पौद्‌गलिक क्रिया 'पर' क्रिया है, अतः आत्मा उसका कर्ता नहीं है। स्व–पर को जानने वाली क्रिया ज्ञान क्रिया है, आत्मा उस ज्ञान क्रिया का कर्ता है। इसप्रकार **आत्मा और पुद्‌गल में परस्पर कर्ता–कर्म भाव नहीं है, अपितु पुद्‌गल ही अपने पुद्‌गल परिणाम का कर्ता है; जीव पुद्‌गल का कर्ता नहीं है, अकर्ता है।**

इसके पश्चात् 77वीं गाथा में अपने आपको जानने वाले जीव में भी पुद्‌गल कर्म का अकर्तृत्व सिद्ध किया जा रहा है। ●

इस गाथा में केवल पुद्‌गल कर्म कहा है, परंतु उसमें राग भी सम्मिलित हो जाता है। पुद्‌गल के कार्य को अर्थात् राग को जीव उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि चेतन जड़ को कैसे उत्पन्न कर सकता है।

जो राग होता है, वह पुद्‌गल का प्राप्य कर्म है और उसी समय उस राग को जानने वाला जो ज्ञान परिणाम होता है, वह आत्मा का प्राप्य कर्म है। पूर्व की दशा पलटकर जो राग होता है, वह पुद्‌गल का विकार्य कर्म है तथा आत्मा को जानने का परिणाम जो पहले अन्य रूप था, वह पलटकर उस राग को जानने रूप हुआ, अतः वह आत्मा का विकार्य कर्म है। जो राग नवीन उत्पन्न हुआ, वह पुद्‌गल का निर्वर्त्य कर्म है तथा उस राग को जानने वाला जो आत्मा को नवीन ज्ञान परिणाम हुआ, वह आत्मा का निर्वर्त्य कर्म है। –प्रवचन रत्नाकर भाग–3, पृ. 165,164 के आधार पर

गाथा 77

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणेयविहं।।77।।

पद विच्छेद :– परदव्व–पज्जाए; सग–परिणामं; अणेय–विहं।

शब्दार्थ :– ण = नहीं; वि = भी; परिणमदि = परिणमित होता है; गिण्हदि = ग्रहण करता है; उप्पज्जदि = उत्पन्न होता है; परदव्व–पज्जाए = पर द्रव्य की पर्याय में; णाणी = ज्ञानी; जाणंतो = जानता हुआ; हु = निश्चय से; सगपरिणामं = अपने परिणाम को (क्षायोपशमिक संकल्प–विकल्प रूप); अणेयविहं = अनेक प्रकार के।

संदर्भ :– 'अपने परिणामों को जानता हुआ जीव पर का कर्ता नहीं है' – इसे सिद्ध करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द इस गाथा में कहते हैं कि –

अर्थ :– ज्ञानी अनेक प्रकार के अपने परिणामों को जानता हुआ भी निश्चय से पर द्रव्य की पर्यायरूप परिणमित नहीं होता, उसे ग्रहण नहीं करता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता।

व्याख्या :– इस गाथा में कहा गया है कि संकल्प–विकल्परूप अपने परिणामों को जानता हुआ, सम्यग्ज्ञानी पर का कर्ता नहीं है; क्योंकि ज्ञानी जीव स्वकीय परिणाम के निमित्त से उदय में आये पुद्गलकर्म पर्यायरूप से तन्मय (आदि, मध्य और अन्त में अन्तर्व्यापक) होकर स्वयं परिणमित नहीं हो सकता, तन्मय होकर ग्रहण नहीं कर सकता तथा उस पर्यायरूप से उत्पन्न भी नहीं होता है। जिसप्रकार मिट्टी और घड़े का उपादान–उपादेय संबंध है; उसीप्रकार आत्मा और पुद्गल कर्म का परस्पर उपादान–उपादेय संबंध का अभाव होने से उनमें शुद्ध निश्चयनय से कर्ता–कर्म भाव का अभाव है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा में अपने स्वयं के परिणामों को जानने वाले ज्ञानी में पुद्गलकर्म का अकर्तापना सिद्ध किया है।

इसके पश्चात् आगामी 78वीं गाथा में पुद्गलकर्म के फल को जानने वाले ज्ञानी में अकर्तापने की सिद्धि की जा रही है। ●

कर्ता का कर्म तीन प्रकार का होता है :-

निर्वर्त्यकर्म – कर्ता के द्वारा नवीन उत्पन्न किया गया कार्य निर्वर्त्यकर्म है। जैसे – नींबू के बीज से आम का पेड़ उत्पन्न नहीं हो सकता, वैसे ही जीव पुद्गल को नवीन उत्पन्न नहीं कर सकता; क्योंकि चेतन जड़ को कैसे उत्पन्न करेगा ? इसलिए पुद्गल कर्म जीव का निर्वर्त्यकर्म नहीं है।

विकार्यकर्म – कर्ता के द्वारा पदार्थों में परिवर्तन (विकार) करके जो कुछ किया जाए वह विकार्य कर्म है। चूँकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कुछ परिवर्तन कर ही नहीं सकता है। इसलिए जीव पुद्गल में विकार करके उसे पुद्गलकर्मरूप परिणमन नहीं करा सकता; क्योंकि चेतन जड़ को कैसे परिणमित कर सकता है? इसलिए पुद्गलकर्म जीव का विकार्यकर्म भी नहीं है।

प्राप्यकर्म – कर्ता जो नया उत्पन्न नहीं करता और विकार करके भी नहीं करता, मात्र जिसे प्राप्त करता है, वह प्राप्यकर्म है। निश्चय से जीव पुद्गल को ग्रहण भी नहीं कर सकता; क्योंकि अमूर्तिक पदार्थ मूर्तिक को कैसे ग्रहण कर सकता है? इसलिए पुद्गल जीव का प्राप्यकर्म भी नहीं है।

इसप्रकार पुद्गलकर्म जीव का कर्म नहीं है और जीव उसका कर्त्ता नहीं है। जीव का स्वभाव ज्ञाता है। इसलिए ज्ञानरूप परिणमन करता हुआ स्वयं पुद्गलकर्म को जानता है; इसलिए पुद्गलकर्म को जाननेवाले–ऐसे जीव का पर के साथ कर्त्ताकर्मभाव कैसे हो सकता है? नहीं ही हो सकता है।

–प्रवचनरत्नाकर भाग–3, गाथा–76, पृष्ठ–157 के आधार पर

गाथा 78

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पोग्गलकम्मप्फलमणंतं।।78।।

पद विच्छेद :– परदव्व–पज्जाए; पोग्गल–कम्म–फलं+अणंतं।

शब्दार्थ :– ण वि परिणमदि = परिणमित नहीं होता; ण गिण्हदि = ग्रहण नहीं करता; उप्पज्जदि ण = उसरूप उत्पन्न नहीं होता; परदव्व–पज्जाए = परद्रव्य की पर्यायरूप; णाणी = ज्ञानी; जाणंतो = जानता हुआ; वि = भी; हु = परमार्थ से (निश्चय से); पोग्गल–कम्म–फलं–अणंतं = पुद्गल का फल जो अनन्त है अर्थात् अनन्त प्रकार के पुद्गल कर्म फल को।

संदर्भ :– 'पुद्गल कर्म के अनन्त फल को जानता हुआ जीव पर का कर्ता नहीं है' – इसे सिद्ध करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द इस गाथा में कहते हैं कि –

अर्थ :– ज्ञानी पुद्गलकर्म के अनन्त फल को जानते हुए भी परमार्थ से परद्रव्य की पर्यायरूप परिणमित नहीं होता, उसे ग्रहण नहीं करता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता ।

व्याख्या :– इस गाथा में कहा गया है कि पुद्गलकर्म के सुख–दुःखरूप अनन्त फल को जानते हुए सम्यग्ज्ञानी जीव का द्रव्यकर्म के साथ भी शुद्धनिश्चयनय से कर्ता–कर्म संबंध नहीं है; क्योंकि भेदविज्ञानी जीव शुद्धनय से परद्रव्यरूप परिणमित नहीं होता, तन्मय होकर ग्रहण नहीं करता और उस पर्यायरूप से उत्पन्न नहीं होता है। जिसप्रकार सोना स्वयं जेवररूप परिणमित होता है, उसीप्रकार आत्मा द्रव्यकर्मरूप परिणमित नहीं होता; क्योंकि आत्मा का द्रव्यकर्म के साथ तादात्म्य संबंध का अभाव है। तादात्म्य संबंध का अभाव होने से उनमें कर्ता–कर्म संबंध भी नहीं है।

संक्षेप में कहें तो 76वीं गाथा में यह कहा है कि **आत्मा अनेक प्रकार के पुद्गल कर्मों को जानता हुआ पर का कर्ता नहीं है,** अपितु पुद्गल ही पुद्गल के परिणाम का कर्ता है। 77वीं गाथा में यह कहा है कि **अपने परिणामों को जानता हुआ पर का कर्ता नहीं है,** अपितु आत्मा तो आत्मा के ही परिणाम का कर्ता है। 78वीं गाथा में यह कहा कि **पुद्गलकर्म के अनन्त फल को जानता हुआ भी पर का कर्ता नहीं है, अपितु पुद्गल ही पुद्गलकर्म के अनन्त फल का कर्ता है।**

इसप्रकार तीनों गाथाओं में जो अन्तर है वह इस बात का है कि वह किसको जानता हुआ पर का कर्ता नहीं है। पर का कर्ता नहीं है यह बात तो तीनों में समान ही है।

इसीप्रकार तीनों ही गाथाओं में यह स्पष्ट किया है कि पुद्गलकृत अनेक प्रकार के पुद्गलकर्म को, आत्मकृत आत्मपरिणामों को और पुद्गलकृत पुद्गलकर्म के अनन्त फल को जानता हुआ भी ज्ञानी आत्मा, आत्मा से भिन्न पर पदार्थों को न तो प्राप्त करता है, न उत्पन्न करता है और न उनरूप परिणमित ही होता है।

अपितु पुद्गल द्रव्य अपने परिणामों के आदि, मध्य और अन्त में व्याप्त होकर; उस परिणमन को स्वयं ही करता है। उसे जानने वाला जीव, उसे जानते हुए भी किसी भी रूप में पर का कर्ता नहीं है, भोक्ता नहीं है और स्वामी भी नहीं है।

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य दो बातें ये हैं कि –

(1) यद्यपि ज्ञानी स्व और पर – दोनों को जाननेरूप अपने परिणमन का कर्ता है; तथापि यहाँ पर के जाननेरूप परिणमन के कर्तृत्व की बात ही मुख्य है।

(2) यहाँ अपने परिणामों को जानते हुए सम्यग्दृष्टि ज्ञानी की बात है, दृष्टि के विषयभूत त्रिकाली ध्रुव को जानते हुए आत्मलीन

अवस्था से युक्त ध्यानी, शुद्धोपयोगी ज्ञानी की बात नहीं है।[1] तात्पर्य यह है कि पर को जाननेरूप अपने परिणमन को जानता हुआ ज्ञानी पर का कर्ता नहीं है।

एक बात और भी ध्यान रखने योग्य है कि यहाँ वर्णादि और रागादिरूप पर के कर्त्तृत्व के निषेध की बात है, उन्हें जानने के निषेध की बात नहीं है; बल्कि यहाँ तो यह कहा गया है कि उन्हें जाननेरूप ज्ञानक्रिया का कर्ता आत्मा है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि 76वीं से 78वीं तक की 3 गाथाओं में ज्ञानी जीव की विभिन्न प्रवृत्ति को बताते हुए उसमें अकर्तापने को सिद्ध किया गया है अर्थात् यह दृढ़ता से स्थापित किया गया है कि **ज्ञानी जीव किसी भी रूप में पर का कर्ता नहीं होता है।**

इसके पश्चात् आगामी 79वीं गाथा में पुद्‌गलद्रव्य को स्वयं (पुद्‌गलद्रव्य) का कर्ता सिद्ध किया जा रहा है। ●

मुक्ति का उपाय

बंधन से, दुखों से मुक्ति का उपाय सम्यग्दर्शन से आरंभ होता है। सम्यग्दर्शन आत्मानुभूति से होता है। आत्मानुभूति स्व-पर के भेदविज्ञान से होती है।

स्व-पर का यथार्थ ज्ञान, स्वभाव-विभाव की सही पहचान ही भेदविज्ञान है।

विभाव अर्थात् राग-द्वेषादि भाव, 29 प्रकार के अध्यवसानादि भाव।

जब जीव अपने स्वभाव ज्ञान में अपनेपन की अनुभूति कर लेता है, तब उसका विभाव भावों में अपनापन नहीं रहता; रागादि में अपनेपन का अज्ञान नहीं रहता। रागादि में अपनेपन का अज्ञान मिटने से आज्ञानपूर्वक होने वाला बंध ही नहीं होता।

संक्षेप में हम कह सकते हैं स्व को अपनेपन से जानने से मुक्ति का आरंभ होता है और स्व को अपनेपन से जानते रहने से पूर्ण बंधन से मुक्ति होती है।

1. समयसार अनुशीलन भाग-2, पृष्ठ-71 प्रथम पैराग्राफ

गाथा 79

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
पोग्गलदव्वं पि तहा परिणमदि सएहिं भावेहिं।।79।।

शब्दार्थ :– ण वि परिणमदि = परिणमित नहीं होता; ण गिण्हदि = ग्रहण नहीं करता; उप्पज्जदि ण = उसरूप उत्पन्न नहीं होता; परदव्व–पज्जाए = परद्रव्य की पर्यायरूप; पोग्गलदव्वं = पुद्गल द्रव्य; पि = भी; तहा = इसप्रकार; परिणमदि = परिणमन करता है; सएहिं = अपने ही; भावेहिं = भावों से।

संदर्भ :– नहीं जाननेवाला पुद्गल भी परद्रव्य का कर्ता नहीं है, यह बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द इस गाथा में कहते हैं कि –

अर्थ :– इसीप्रकार पुद्गल द्रव्य भी परद्रव्य की पर्यायरूप परिणमित नहीं होता, उसे ग्रहण नहीं करता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि वह भी अपने ही भावों में परिणमित होता है।

व्याख्या :– 76 से 78 तक की गाथाओं में दिए गये तर्क और युक्तियों के आधार पर ही इस गाथा में कहा गया है कि अनेक प्रकार के पुद्गलकर्म, आत्मा के परिणाम और पुद्गल कर्म के अनन्त फलों को नहीं जाननेवाला पुद्गल भी आत्मा के परिणमन का निश्चय से कर्ता नहीं है; क्योंकि पुद्गल द्रव्य भी जीव स्वरूप से न परिणमित होता है, न जीव को तन्मयरूप से ग्रहण करता है और न ही जीव पर्यायरूप से उत्पन्न होता है। जिसप्रकार मिट्टी और कुम्हार में तादात्म्य संबंध नहीं है, उसीप्रकार पुद्गल और जीव में तादात्म्य संबंध के अभाव में पुद्गल का जीव के साथ कर्ता–कर्म संबंध नहीं है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि 76 से 79 तक की चारों ही गाथाओं में एक ही बात कही गई है। इन गाथाओं में भेदज्ञान की अपेक्षा कथन किया गया है।

एक द्रव्य न तो दूसरे द्रव्य की पर्यायरूप परिणमित होता है, ना दूसरे द्रव्य की पर्याय को ग्रहण करता है, और न उसरूप उत्पन्न ही होता है; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपने भावों में ही परिणमित होता है। इसलिए एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य की पर्याय के साथ कर्ता-कर्म संबंध होना संभव नहीं है अर्थात् पुद्गल पौद्गलिक भावों का कर्ता है और जीव अपने जाननेरूप ज्ञान भाव का कर्ता है।

चारों गाथाओं में लगभग एक-सी ही बात कही जाने पर भी इतना अन्तर है कि 76, 77 एवं 78वीं गाथाएँ तो 'जीव परद्रव्य के भावों का कर्ता नहीं है' - यह बताती हैं और 79वीं गाथा यह बताती है कि 'पुद्गलद्रव्य भी परद्रव्य के भावों का कर्ता नहीं है'। तात्पर्य यह है कि **जाननेवाला जीव भी पर का कर्ता नहीं है और नहीं जाननेवाला पुद्गल भी पर का कर्ता नहीं है।** ऐसा कहकर आचार्यदेव यह कहना चाहते हैं कि जानने और न जानने से पर के कर्तृत्व का कोई संबंध नहीं है; जबकि अज्ञानी की यह मान्यता होती है कि जानने के कारण जीव ही कर्ता हो सकता है। जो जान नहीं सकता-ऐसा पुद्गल कदापि कर्ता नहीं हो सकता। अज्ञानियों की उक्त मान्यता का निराकरण भी इन गाथाओं से हो गया है ।

इसप्रकार स्पष्ट है कि जीव पुद्गल के भावों में कुछ नहीं करता, पुद्गल जीव के भावों में कुछ नहीं कर सकता; अतः दोनों में कर्ता-कर्म संबंध नहीं है ।

यदि ऐसा है, तो प्रश्न उठता है कि क्या जीव और पुद्गल में कुछ भी संबंध नहीं है? यदि है, तो कौन सा? इन दोनों के परस्पर संबंध को ही 80 से 82 तक की 3 गाथाओं में स्पष्ट किया जा रहा है और 84 वीं गाथा में यह बताया गया है कि पुद्गल द्रव्य भी पर द्रव्य के भावों का कर्ता नहीं है ।

अब 80वीं गाथा में जीव और पुद्गल के परस्पर संबंधों का सामान्य कथन किया जा रहा है। ●

गाथा 80

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पोग्गला परिणमंति।
पोग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि।।80।।

पद विच्छेद :– जीव–परिणाम–हेदुं ; पोग्गल–कम्म–णिमित्तं।

शब्दार्थ :– जीव–परिणाम–हेदुं = जीव के परिणाम के निमित्त से; कम्मत्तं = कर्मरूप में; पोग्गला = पुद्गल (बहुवचन); परिणमंति = परिणमित होते हैं; पोग्गल–कम्म–णिमित्तं = पुद्गलकर्म के निमित्त से; तहेव = उसीप्रकार; जीवो = जीव; वि = भी; परिणमदि = परिणमन करता है।

संदर्भ :– जीव और पुद्गल के परिणामों के संबंध को बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि –

अर्थ :– जिसप्रकार जीव के परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल (कार्माण वर्गणाएं) कर्मरूप परिणमित होते हैं, उसीप्रकार जीव भी पौद्गलिक कर्मों के निमित्त से परिणमन करता है।

व्याख्या :– यद्यपि जीव और पुद्गल के परिणाम में निश्चयनय से परस्पर में कर्ता–कर्म भाव नहीं है, तथापि दोनों का परस्पर निमित्त मात्रपना है। जिसप्रकार कुम्हार के परिणाम को निमित्त मात्र करके मिट्टी घड़े रूप में परिणमन करती है, उसीप्रकार जीव संबंधित मिथ्यात्व, रागादि परिणामों का निमित्त पाकर कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल द्रव्य कर्मरूप से परिणमन करता है और जिसप्रकार घट को निमित्त मात्र करके 'मैं घड़े को बनाता हूँ' इसप्रकार के भावरूप कुम्हार परिणमन करता है, उसीप्रकार उदयागत पुद्गलकर्म का निमित्त पाकर जीव भी मिथ्यात्व, रागादि विभावरूप परिणमन करता है अर्थात् जीव के विकारी परिणाम पुद्गलकर्म के परिणामों का निमित्त है तथा पुद्गलकर्म का उदय जीव

के राग–द्वेष परिणामों का निमित्त है। इसप्रकार जीव और पुद्गल के परिणामों में परस्पर निमित्त–नैमित्तिक भाव है।

इसके पश्चात् आगामी 81वीं गाथा में जीव और पुद्गल के संबंधों का विशेष कथन किया जा रहा है। ●

प्रश्न – जीव का किसके साथ कर्त्ता–कर्म संबंध है, किसके साथ नहीं?

उत्तर – 1. जीव अपने ज्ञान के परिणाम का कर्त्ता है।
2. जीव पुद्गल के भी ज्ञान का कर्त्ता है।
3. जीव परद्रव्य के भी ज्ञान का कर्त्ता है।
4. जीव परभाव के ज्ञान का भी कर्त्ता है।
5. जीव परद्रव्य का कर्त्ता नहीं है।
6. जीव परभाव का कर्त्ता भी नहीं है।
7. जीव परद्रव्य की पर्याय का भी कर्त्ता नहीं है।
8. जीव अन्य जीव का कर्त्ता नहीं है।
9. जीव पुद्गल परिणाम का उपादान कर्त्ता नहीं है।
10. जीव पुद्गल में कर्त्ता–कर्म संबंध ही नहीं है।
11. जीव पुद्गल में निमित्त–नैमित्तिक संबंध है।
12. ज्ञानी–अज्ञानी पर का कर्त्ता कोई नहीं है।
13. अज्ञानी अज्ञानभाव का कर्त्ता है।
14. ज्ञानी ज्ञानभाव का कर्त्ता है।
15. ज्ञानी विकारीभाव का कर्त्ता नहीं है।
16. ज्ञानी विकारीभाव को जानने का कर्त्ता है।
17. पुद्गल परिणाम का कर्त्ता पुद्गल द्रव्य है।

गाथा 81

ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि।।81।।

पद विच्छेद :– कम्म–गुणे; जीव–गुणे; अण्णोण्ण–णिमित्तेण।

शब्दार्थ :– ण वि = नहीं भी; कुव्वदि = करता; कम्मगुणे = कर्म के गुणों को अर्थात् पर्यायों को; जीवो = जीव; कम्मं = कर्म; तहेव = उसी तरह; जीव–गुणे = जीव के गुणों को; अण्णोण्ण–णिमित्तेण = परस्पर निमित्त से; दु = परन्तु; जाण = जानो; दोण्हं = दोनों के; पि = भी।

संदर्भ :– जीव और पुद्गल के गुणों के संबंध को बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि –

अर्थ :– यद्यपि जीव कर्म के गुणों अर्थात् पर्यायों को नहीं करता और कर्म जीव के गुणों अर्थात् पर्यायों को नहीं करता, तथापि परस्पर निमित्त से दोनों के परिणाम होते हैं – ऐसा जानों ।

व्याख्या :– जीव और पुद्गल के निमित्त–नैमित्तिक संबंध को बताते हुए इस गाथा में कहा गया है कि यद्यपि निश्चय से जीव उपादानरूप से वर्णादि पुद्गल पर्यायों को नहीं करता और कर्म भी उपादानरूप से अनन्त ज्ञान आदि जीव पर्यायों को नहीं करता; तथापि परस्पर एक दूसरे के निमित्त से इन दोनों का परिणमन होता है। जैसे कुम्हार के निमित्त से मिट्टी में परिवर्तन होकर घड़ा बनता है।

संक्षेप में कहें तो जिसप्रकार कुम्हार और घड़े में निमित्त–नैमित्तिक संबंध है; उसीप्रकार जीव और पुद्गल में निमित्त–नैमित्तिक संबंध है; पर कर्ता–कर्म संबंध नहीं है।

इसके बाद 82वीं गाथा में अपने भावों के साथ कर्ता–कर्म संबंध की स्थापना और पर के साथ कर्ता–कर्म संबंध का निषेध किया जा रहा है।

●

गाथा 82

एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पोग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं।।82।।

पद विच्छेद :– पोग्गल–कम्म–कदाणं; सव्व–भावाणं।

शब्दार्थ :– एदेण = इस; कारणेण = कारण से; दु = परन्तु; कत्ता = कर्ता (कहा जाता है); आदा = आत्मा; सएण = अपने ही; भावेण = भाव से; पोग्गल–कम्म–कदाणं = पुद्‌गल कर्म से किये गये; ण = नहीं; सव्वभावाणं = समस्त भावों का।

संदर्भ :– जीव परभावों का कर्ता कदापि नहीं – यह बताते हुऐ आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि –

अर्थ :– इस कारण आत्मा अपने भावों का कर्ता है, परन्तु पौद्‌गलिककर्मों के द्वारा किये गये समस्त भावों का कर्ता नहीं है।

व्याख्या :– स्वकर्तृत्व की स्थापना और परकर्तृत्व का निषेध करते हुए इस गाथा में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि – जिसप्रकार मिट्टी द्वारा घड़ा किया जाता है, उसीप्रकार अपने भाव से अपना भाव किया जाने के कारण जीव अपने भाव का कर्ता शुद्ध उपादान कारण से होता है; किन्तु जिसप्रकार मिट्टी से कपड़ा नहीं किया जा सकता, उसीप्रकार अपने भाव से पर भाव का किया जाना अशक्य होने से जीव निश्चय से पुद्‌गल भावों का कर्ता तो कदापि नहीं हो सकता ।

संक्षेप में कहें तो आत्मा शुद्ध निश्चयनय (निर्मल आत्मानुभूतिरूप) से शुद्ध उपादान कारण से अपने अनन्त सुखादि शुद्ध भावों का शुद्ध उपादान कर्ता है और अशुद्ध निश्चयनय से अशुद्ध उपादान कारण से अपने मिथ्यात्व–रागादि अशुद्ध भावों का अशुद्ध उपादान कर्ता है, किन्तु ज्ञानावरणादि पौद्‌गलिक कर्मों का कर्ता तो आत्मा कदापि नहीं है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इन तीन (80, 81, 82) गाथाओं में जीव और पुद्गल आदि परद्रव्य में कर्ता- कर्म संबंध का निषेध कर निमित्त- नैमित्तिक संबंध की स्थापना की गई है । इसके पश्चात 83 - 84वीं दो गाथाओं में नयों की अपेक्षा कर्तृत्व- भोक्तृत्व के संबंध में सामान्य जानकारी दी गई है।

अब आचार्यदेव सर्वप्रथम, 83वीं गाथा में आत्मा के स्व कर्तृत्व, भोक्तृत्व के संबंध में निश्चयनय की अपेक्षा बता रहे हैं। ●

जब सम्यग्दर्शन का विषय, दृष्टि का विषय अथवा ध्यान का ध्येय बताने का प्रयोजन होता है; तब त्रिकाली ध्रुव द्रव्य में शामिल न होने से निर्मल पर्याय को भी आत्मा में शामिल नहीं किया जाता है; क्योंकि तब त्रिकाली शुद्ध स्वभाव, शुद्ध चैतन्यमय वस्तु, अविनाशी आत्मा ही बतलाने का प्रयोजन होता है।

पर्याय प्रतिक्षण विनाशीक है, उस पर दृष्टि करने से विकल्प ही उत्पन्न होते हैं; अतः उस समय आश्रय की अपेक्षा संवर,निर्जरा तथा मोक्ष की पर्यायों को भी हेय कहा जाता है।

जब कर्ता-कर्म बतलाने की अपेक्षा हो, तब निर्मल ज्ञान-आनन्द रूप परिणमन करने वाले को आत्मा कहा जाता है। यहाँ स्वभावरूप परिणमन को आत्मा कहते हैं और विभाव रूप परिणमन, रागरूप परिणमन को आत्मा की श्रेणी में नहीं रखते हैं। अतः इस अपेक्षा जो स्वभाव रूप परिणमन करे- ज्ञानरूप परिणमन करे, वह आत्मा और जो राग रूप परिणमन करे वह आत्मा नहीं है। आत्मा तो शुद्ध ज्ञानानंद स्वभावी वस्तु है, इसलिए निर्मल ज्ञान-आनन्दरूप परिणमन करने वाला ही आत्मा है।

-प्रवचनरत्नाकर भाग-2, पृष्ठ-44 के आधार पर

गाथा 83

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं।।83।।

पद विच्छेद :– अप्पाणं+एव; च+एव।

शब्दार्थ :– णिच्छयणयस्स = निश्चयनय का; एवं = ऐसा (मत है); आदा = आत्मा; अप्पाणं = अपने को; करेदि = करता है; वेदयदि = भोगता है; पुणो = फिर; तं = उसको; च एव = और ही; जाण = जानो; अत्ता = आत्मा; दु = और; अत्ताणं = अपने को।

संदर्भ :– इस गाथा में निश्चयनय की अपेक्षा आत्मा के कर्तृत्व-भोक्तृत्व को बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि–

अर्थ :– निश्चयनय का ऐसा मत है कि यह आत्मा अपने को ही करता है और अपने को ही भोक्ता है – ऐसा जानो !

व्याख्या :– इस गाथा में निश्चयनय की अपेक्षा आत्मा के कर्ता-भोक्ता स्वभाव को बताते हुए कहा गया है कि निश्चय से आत्मा का अपनी सभी पर्यायों के साथ कर्ता-कर्म भाव और भोक्तृ-भोग्य भाव है।

सभी पर्यायों में विकारी व निर्मल – दोनों पर्यायें शामिल होती हैं। इसप्रकार इस गाथा का अर्थ हुआ कि– अपनी विकारी व निर्विकारी पर्याय का कर्ता आत्मा स्वयं ही है; अर्थात् राग की विकारी पर्याय व मोक्षमार्ग की स्वभाव पर्याय – दोनों का कर्ता जीव स्वयं है तथा तदनुकूल होने वाले दु:ख-सुख का भोक्ता भी आत्मा ही है।

संक्षेप में कहें तो इस गाथा में निश्चयनय से **आत्मा को स्वयं के विकारी और अविकारी – दोनों ही भावों का कर्ता-भोक्ता कहा गया है।**

इसके पश्चात् 84वीं गाथा में आत्मा के पर कर्तृत्व-भोक्तृत्व के संबंध में व्यवहारनय की अपेक्षा बताई जा रही है। ●

गाथा 84

ववहारस्स दु आदा पोग्गलकम्मं करेदि णेयविहं।
तं चेव पुणो वेयइ पोग्गलकम्मं अणेयविहं।।84।।

शब्दार्थ :- ववहारस्स = व्यवहार का; आदा = आत्मा; पोग्गलकम्मं = पुद्गल कर्म को; करेदि = करता है; णेयविहं, अणेयविहं = अनेक प्रकार के; तं = उसी; पुणो = पुनः; वेयइ = भोगता है।

संदर्भ :- इस गाथा में व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मा के कर्तृत्व-भोक्तृत्व को बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि-

अर्थ :- व्यवहारनय का यह मत है कि आत्मा अनेक प्रकार के पुद्गलकर्मों को करता है और उन्हीं अनेक प्रकार के पुद्गलकर्मों का भोक्ता है।

व्याख्या :- इस गाथा में आत्मा को अनेक प्रकार के पुद्गल कर्मों का कर्ता और उनके फल का भोक्ता व्यवहारनय से बताया गया है। यद्यपि ज्ञानी भी प्रयोजन विशेष से इसप्रकार की भाषा का उपयोग करते हैं, व्यवहार में प्रवर्तित होते हैं; तथापि वे अच्छी तरह जानते हैं कि निश्चय से एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता-धर्ता नहीं है।

जिसप्रकार 83 वीं गाथा में आत्मा के स्वकर्तृत्व व भोक्तृत्व को निश्चयनय की अपेक्षा बताया गया था; उसीप्रकार इस गाथा में व्यवहारनय की अपेक्षा परकर्तृत्व व भोक्तृत्व का ज्ञान कराया गया है।

इसप्रकार दोनों नय अपने-अपने कथन में 100% सत्यार्थ है, भूतार्थ हैं। अतः जहाँ जैसी अपेक्षा बताई हो; वहाँ वैसी ही समझना चाहिए। जिनागम की नय की अपेक्षा सही समझे बिना कथन करने में अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे- हम व्यवहार के समान ही निश्चय से भी आत्मा को परद्रव्य का कर्ता मानें तो उसमें दोष उत्पन्न हो जाएगा अथवा बिना अपेक्षा के कथन करेंगे तो भी दोष उत्पन्न होगा। जिसकी चर्चा 85वीं गाथा में की जा रही है। ●

गाथा 85

जदि पोग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
दोकिरियावदिरित्तो पसज्जदे सो जिणावमदं।।85।।

पद विच्छेद :– पोग्गल–कम्मं–इणं; दोकिरिया–अवदिरित्तो; जिण+अवमदं ।

शब्दार्थ :– जदि = यदि; पोग्गल–कम्मं–इणं = इस पुद्गल कर्म को; कुव्वदि = करे; तं चेव = और उसी को; वेदयदि = भोगे तो; आदा = आत्मा; दोकिरिया–अवदिरित्तो = दो क्रियाओं से अभिन्न; पसज्जदे = ठहरे (ऐसा प्रसंग आता है); सो = वह; जिण+अवमदं = जिनदेव सम्मत नहीं है (अर्थात् जिनेन्द्र भगवान का मत नहीं है)।

संदर्भ :– इस गाथा में अज्ञानियों के अनादि संसार से प्रसिद्ध व्यवहार में दोष बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि –

अर्थ :– यदि आत्मा पुद्गल कर्म को करे और उसी को भोगे तो वह आत्मा अपनी और पुद्गलकर्म की दो क्रियाओं से अभिन्न ठहरे; जो कि जिनदेव को सम्मत नहीं है।

व्याख्या :– इस गाथा में नयों के नाम का उल्लेख नहीं है; अतः आचार्यदेव इस गाथा में अपेक्षा रहित मान्यता में दोष बता रहे हैं।

जैनदर्शन की स्पष्ट मान्यता है कि कथन में, वाणी में नयों का प्रयोग अत्यावश्यक है; अन्यथा उसमें दोष उत्पन्न हो जाएँगे। जैसा कि इस गाथा में कहा गया है कि – 'आत्मा पुद्गल कर्म को करता भी है और भोक्ता भी है ।'– अपेक्षा बिना किया गया यह कथन दूषित है; क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की क्रिया को करने में समर्थ नहीं है। चूँकि

आत्मा चेतन द्रव्य है और पुद्गल अचेतन द्रव्य, अतः वह दो द्रव्यों की क्रिया को नहीं कर सकता। इसलिए जो आत्मा को दो द्रव्यों की क्रिया का कर्ता-भोक्ता मानेगा, वह **द्विक्रियावादी** है।

इस दोष से बचने के लिए यदि कोई जीव निश्चयनय का प्रयोग करते हुए कहे कि - निश्चयनय से आत्मा पुद्गल कर्म का कर्ता-भोक्ता है तो इस कथन में भी उक्त द्विक्रियावादी का दोष आएगा; क्योंकि निश्चयनय से आत्मा अपने ही भावों का कर्ता- भोक्ता होता है- यह गाथा 83 में पहले ही आचार्यदेव बता चुके हैं।

इस दोष से बचने के लिए यदि कोई निश्चयनय के स्थान पर व्यवहारनय का प्रयोग करें; तो वह कथन सत्य ही होगा। इसका कथन भी आचार्यदेव ने 84 वीं गाथा में किया है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इस गाथा में अपेक्षा रहित कहे गए जीव के कर्तृत्व-भोक्तृत्व संबंधी अज्ञानियों के अनादि संसार से प्रसिद्ध व्यवहार कथन में आचार्यदेव ने द्विक्रियावादी होने का दोष दिखाया है।

द्विक्रियावादियों के दोष को दिखाते हुए इस में आचार्यदेव कहते हैं कि यदि आत्मा उपादानरूप से पुद्गलकर्मों को करे तथा उसी को उपादानरूप से भोगे तो चेतन तथा अचेतन दोनों की क्रिया से वह आत्मा अभिन्न ठहरता है। ऐसी स्थिति में स्व-पर का विभाग ही समाप्त हो जाएगा। यह स्थिति हमें-आपको, किसी को भी स्वीकृत नहीं होगी; क्योंकि जीव को पुद्गलरूप स्वीकार करने पर अपना अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। अतः **जीव को अपनी और पर की दोनों की क्रियाओं का कर्ता-भोक्ता नहीं कहा जा सकता।**

इसके पश्चात् 86वीं गाथा में द्विक्रियावादी का स्वरूप बताया गया है। ●

गाथा 86

जम्हा दु अत्तभावं पोग्गलभावं च दो वि कुव्वंति।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो हुंति।।86।।

शब्दार्थ :– जम्हा दु = क्योंकि; अत्तभावं = आत्मा के भाव को; पोग्गलभावं = पुद्‌गल के भाव को; च = और; दो वि = दोनों को भी; कुव्वंति = (आत्मा) करते हैं; तेण दु = इसलिए; मिच्छादिट्ठी = मिथ्यादृष्टि; दोकिरियावादिणो = द्विक्रियावादी अर्थात् एक द्रव्य के दो क्रियाओं का होना मानने वाले; हुंति = हैं।

संदर्भ :– द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि का स्वरूप बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि –

अर्थ :– जो ऐसा मानते हैं कि आत्मा के भाव और पुद्‌गल के भाव – दोनों को आत्मा करता है; वे द्विक्रियावादी हैं; इसलिए वे मिथ्यादृष्टि भी हैं।

व्याख्या :– इस गाथा में द्विक्रियावादी का स्वरूप बताते हुए कहा है कि चेतन–अचेतन के कार्यों का एक उपादान कर्ता मानना द्विक्रियावादीपना है। जैसे– आत्मा को ज्ञान का कर्ता भी मानना और घट का भी उपादान कर्ता मानना। उदाहरण के तौर पर जिसप्रकार कुम्हार उपादानरूप से स्वकीय परिणाम करता है, यदि उसीप्रकार उपादानरूप से ही घट को भी करे; तो उसे रूपी, अचेतन और घटरूप होना होगा अथवा घट को चेतन और कुम्हार होना होगा। इसीप्रकार यदि जीव भी उपादानरूप से पुद्‌गल कर्म को करे तो जीव को अचेतन–पुद्‌गल अथवा पुद्‌गलकर्म को चेतन–जीव होना होगा। जबकि ऐसा होता नहीं है। अतः यह सुनिश्चित ही है कि निश्चय से जीव अपने भावों को भी करता है और पौद्‌गलिक कर्मों को भी करता है – ऐसा

माननेवाले द्विक्रियावादी हैं; इस कारण वे मिथ्यादृष्टि भी हैं, अज्ञानी भी हैं। इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा में अपेक्षा बिना परद्रव्य के कर्तापने की मान्यता वाले जीव को अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि, द्विक्रियावादी कहा है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि निश्चयनय से जीव परद्रव्यों और परभावों का उपादान कर्ता कदापि नहीं है, अतः आत्मा को परद्रव्यों, परभावों का उपादान कर्ता मानना अज्ञान है, मिथ्यात्व है, द्विक्रियावादीपना है।

इसके पश्चात् तात्पर्यवृत्ति की गाथा सातवीं में पर पदार्थों को भोक्ता कहने की अपेक्षा बताई जा रही है। ●

जीव को समय-समय विपरीत मान्यता से मिथ्यात्व कैसे होता है- इसकी यह बात चल रही है।

अज्ञानी जीव को जब सुगन्ध का ज्ञान होता है तो वह मानता है कि मैंने नासिका से सूँघा; किन्तु यह शरीर और इन्द्रियाँ तो जड़ हैं, मिट्टी हैं। क्या आत्मा नासिका से जानता है? नहीं, आत्मा नासिका से नहीं, बल्कि ज्ञान से जानता है।

आँख आदि के फड़कने रूप एवं खाने-पीने रूप शरीर की क्रियायें जड़ की क्रियायें हैं, जो जड़ से ही होती हैं; परंतु अज्ञानी ऐसा मानता है कि वह क्रिया मुझसे होती है, उसकी यह मान्यता मिथ्या है। जीभ, कान आदि इन्द्रियाँ जड़ हैं। जीभ से चखा व कान से सुना- ऐसा मानना अज्ञान है, मिथ्यादर्शन है; क्योंकि इन्द्रियों से वह जानता नहीं है, ज्ञान की पर्याय से जानता है। इन्द्रियाँ निमित्त हैं, परन्तु निमित्त का अर्थ यह है कि जो पर में कुछ करे नहीं।

जीव राग की क्रिया करता है, परंतु पर की क्रिया नहीं करता। शरीर चलता है तो अज्ञानी मानता है कि 'मैं शरीर को चलाता हूँ,' परंतु यह तो विपरीत मान्यता है।

तात्पर्यवृत्ति गाथा 7

पुग्गलकम्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भावं।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तह वेददि अप्पणो भावं।।

पद विच्छेद :– पुग्गलकम्म–णिमित्तं

शब्दार्थ :– पुग्गलकम्मणिमित्तं = पुद्गलकर्म के निमित्त से; जह = जिसप्रकार; आदा = आत्मा; कुणदि = करता है; अप्पणो = आत्मा में होने वाले; भावं = भावों को (विकारी); तह = उसप्रकार; वेददि = भोगता है।

संदर्भ :– जीव परपदार्थों का भोक्ता किस अपेक्षा से कहा जाता है? यह बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि –

अर्थ :– जिसप्रकार जीव (व्यवहारनय से) पुद्गलकर्म के निमित्त से अपने (आत्मा) में होनेवाले विकारी भावों का कर्ता है, उसीप्रकार (व्यवहारनय से) पुद्गलकर्म के निमित्त से अपने में होनेवाले विकारी भावों का भोक्ता भी यही जीव है।

व्याख्या :– 84वीं गाथा में भी यही कहा था; अंतर इतना है कि वहाँ व्यवहारनय का स्पष्ट उल्लेख किया था और इस गाथा में नयों के नाम का उल्लेख न करके निमित्त की अपेक्षा कथन किया है। दूसरा अंतर यह है कि उस गाथा में कर्तृत्व–भोक्तृत्व दोनों की सिद्धि की गयी थी और इस गाथा में जीव के विकारी भावों के कर्तापने को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर जीव को उन्हीं विकारी भावों का भोक्ता भी कहा जा रहा है अर्थात् जिस अपेक्षा, जिस नय से जीव पुद्गलकर्म के निमित्त से होनेवाले विकारी भावों का कर्ता होता है; उसी अपेक्षा, उसी नय से जीव उन्हीं विकारी भावों का भोक्ता भी होता है; किन्तु पर का कर्ता–भोक्ता वह कदापि नहीं होता है। जो अपने आपको 'पर' का कर्ता–भोक्ता मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है, अज्ञानी है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द ने 73वीं से 86वीं तक की 12 गाथाओं में अनेक प्रकार से यह स्पष्ट कर दिया है कि- जैनमतानुसार प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायों के कर्ता हैं, एक दूसरे की पर्याय के कर्ता नहीं हैं। अतः हम पर में कुछ करते नहीं, कर सकते नहीं; न ही पर में हमने आज तक कुछ किया ही है। कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य के भले-बुरे का कर्त्ता रंच मात्र भी नहीं है।

दो द्रव्यों में निमित्त-नैमित्तिक भाव तो हो सकता है, कर्ता-कर्म भाव किसी भी अपेक्षा नहीं हो सकता है। कर्ता-कर्म भाव के समान ही दो द्रव्यों में भोक्ता-भोग्य भाव भी नहीं होता है।

यद्यपि निश्चय से तो जीव अपने भावों का ही कर्ता है और अपने भावों का ही भोक्ता है; किंतु व्यवहारनय से उसे पुद्गल कर्म का कर्ता और भोक्ता भी कहते हैं। व्यवहार कथन उपचरित कथन है, कथंचित् सत्यार्थ है, कथंचित् असत्यार्थ है।

दो द्रव्यों की क्रियाएँ भिन्न-भिन्न ही होती हैं। जो जीव एक द्रव्य को दो द्रव्यों की क्रियाओं का उपादान कर्ता मानता है, वह द्विक्रियावादी है, मिथ्यादृष्टि है। इसीप्रकार एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्ता-भोक्ता मानना अज्ञान है, मिथ्यात्व है।

इसप्रकार की अनेक कर्तृत्व और भोक्तृत्व संबंधी भूलों की ओर ध्यान आकर्षित कर वस्तु के अकर्त्ता-अभोक्ता स्वरूप को इन गाथाओं में समझाया गया है। साथ ही साथ इनमें जीव को पर से भिन्न बताकर, उनसे व मोह-राग-द्वेषादि भावों से छुड़ाकर आत्म सन्मुख करने का प्रयास किया गया है।

कुछ जीव इन गाथाओं को अच्छी तरह समझ कर अपनी आत्मा में लीन होने का पुरुषार्थ कर सकते हैं। अतः उनके लिए यहाँ तक की गाथाएँ भी पड़ाव सिद्ध हो सकती हैं। यह समयसार का **12वां पड़ाव** है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि 19 से 68 तक की 41 गाथाओं में आचार्यदेव ने जीव की पुद्‌गल आदि 5 अजीव द्रव्य से भिन्नता की बात की है और 69 से 74 तक की 6 गाथाओं में जीव–अजीव द्रव्यों की आस्रवादि पर्यायों से भिन्नता की बात कर उनके नाश की विधि बताई है तथा 75 वीं गाथा से 86 वीं गाथा तक की 12 गाथाओं में जीव–अजीव द्रव्यों की पर्यायों में होनेवाली कर्ता–कर्म और भोक्ता–भोग्य संबंधी भूलों का सामान्य कथन किया है।

विस्ताररुचि शिष्यों के लिए कर्त्ता–कर्म व भोक्ता–भोग्य संबंधी भूलों का, आस्रव, बंधादि का विशेष वर्णन आगे की सम्पूर्ण गाथाओं में किया जायेगा।

आचार्य देव अच्छी तरह जानते थे कि सम्यग्दर्शन में, आत्मानुभूति में, आत्मा की स्थिरता में बाधक जीव–अजीव संबंधी अज्ञान है और केवलज्ञान में, सम्पूर्ण बंधन से मुक्ति में, आत्मलीनता में बाधक कर्त्ता–कर्म, भोक्ता–भोग्य संबंधी भूल है; अतः उन्होंने यहाँ तक की गाथाओं में जीव–अजीव का विस्तार से व सम्पूर्ण बंध से मुक्ति का संक्षेप में वर्णन कर दिया है। जिसे समझकर जीवन में उतारकर अनेकों जीव मुक्तिमार्ग में आगे बढ़ सकते हैं, मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि मध्यम रुचि शिष्यों के लिए समयसार यहीं पूर्ण हो जाता है।

आगामी गाथाओं में अत्यन्त अप्रतिबुद्ध जीव को मिथ्यात्व, अज्ञान आदि का स्वरूप समझाते हुए कर्त्ता–कर्म, भोक्ता–भोग्य संबंधी भूलों पर विशेष कथन विस्तार से किया गया है– जिनकी चर्चा **मीडियम समयसार भाग–३** में की जायेगी। ●

लेखिका की कृतियों का संक्षिप्त परिचय

डॉ. शुद्धात्मप्रभा द्वारा लिखी गई बाल पुस्तक के सभी भागों के पहले भागों में जिन विषयों की सामान्य चर्चा है, बाद के भागों में उन्हीं की विशेष जानकारी दी गई है। इसप्रकार इनमें क्रमशः उत्तरोत्तर विकास है। बाल पुस्तकों में प्राप्त यह क्रमिक विकास स्कूल की आधुनिक शिक्षा प्रणाली के समान होने के कारण बालकों में व्यवस्थित धर्मज्ञान कराने के लिए अत्यंत उपयोगी है। इन पुस्तकों की विषयवस्तु का क्रम निश्चित करने में पाठकों के मनोविज्ञान तथा ज्ञान के स्तर का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। इन पुस्तकों की संक्षिप्त जानकारी निम्न है-

1. जैन नर्सरी :- इसके माध्यम से एक साल से तीन साल तक के बच्चों को फोटो दिखाकर हाँ और ना के एक्शन सिखाए जा सकते हैं।

2-4. जैन के.जी.भाग-1-3 :- इन प्रीपाईमरी पुस्तकों में जैनदर्शन की बेसिक जानकारी दी गई है।

5-8. जैन जी. के. भाग 1-4 :- इन पुस्तकों में जैन दर्शन की सामान्य जानकारी दी गई है। जो बालकों और किशोरों को प्रारंभिक ज्ञान के लिए अत्यंत उपयोगी है।

9-14. जैन जी. के. भाग 5-10 :- इन पुस्तकों में जैन दर्शन के विशेष महत्वपूर्ण सिद्धांतो की संक्षिप्त जानकारी दी गई है। जिन्हें समझकर कोई भी जन जिनवाणी को समझ सकता है।

15-16. जैन कलर बुक भाग 1-2 :- इन ड्राइंग बुक की यह विशेषता है कि इसमें संबंधित चित्र संबंधी जानकारी भी दी गई है।

17. सीखे हम गाते-गाते :- इसमें बेसिक जैन सिद्धांतो की जानकारी कविताओं के माध्यम से दी गई है।

18-20. आगम प्रवेश भाग 1-2-3 :- जैन सिद्धांतो की सामान्य जानकारी छोटे-छोटे पाठों के रूप में दी गई है अतः यह पुस्तकें पाठशालाओं और स्कूलों में किशोर व युवा वर्ग के लिए अत्यंत उपयोगी है।

21. मुझमें भी एक दशानन रहता है :- इस पुस्तक में बताया गया है कि क्रोधादि रूपी रावण हम सब के अंदर विद्यमान है, जिसके कारण आतमराम दुःखी होता रहता है। जब हम अपनी उन बुराईयों को आतमराम की सहायता से दूर करते जाते हैं, तो परमात्मा के समान अतीन्द्रिय सुख के हकदार बनते जाते हैं।

22. शब्दों की रेल :– जैन शब्दावली और उसके अर्थों को पद्यों में प्रस्तुत करने वाली इस पुस्तक में अक्षरमाला के माध्यम जीव की कहानी का वर्णन किया गया है।

23–24. चलो पाठशाला : चलो सिनेमा भाग–1–2 :– इन पुस्तकों में हमारे मन में उठने वाली शंकाओं का समाधान संवाद शैली में छोटे–छोटे नाटकों के माध्यम से किया गया है। जिन्हें तैयार करके बच्चे विभिन्न अवसरों पर मंचित करते हैं।

25. संस्कार का चमत्कार :– इसमें आ. कुन्दकुन्द के बारे में प्रचलित घटनाओं के माध्यम से मानवीय मनोभावों का चित्रण करते हुए अध्यात्म का पुट सहजता से दिया गया है। संवाद शैली में लिखी इस पुस्तक पर नाटक मंचन आसानी से किया जा सकता है।

26–29. परमागम प्रवेशिका भाग–1–4 :– इन चारों भागों में प्रश्नोत्तरों के रूप में जिन सिद्धांतों को संक्षेप में बताया गया है। एक तरह से ये जैन सिद्धांतों की डिक्सनरी है।

इसके पहले भाग में सरलतम विषय प्रश्नों के माध्यम से समझाये गये हैं।

दूसरे भाग में एक–एक विषय को लेकर तत्संबंधित मुख्य जानकारी दी गई है। जैसे– गणधर, दिव्यध्वनि, समवशरण आदि।

तीसरे भाग में नय–प्रमाण, रत्नत्रय आदि गूढ़ विषयों को लिया गया है।

चौथे भाग में ऐसे विषय लिये गये हैं जो अपनी दुरूहता के कारण विद्वानों में भी चर्चा का विषय बनते रहते हैं।

30. राम कहानी :– जैन पुराण के आधार पर सरल–सुबोध, प्रवाहपूर्ण आधुनिक शैली में सर्वप्रथम लिखी गई इस पुस्तक में राम कथा के मार्मिक पहलुओं को प्रस्तुत किया है।

31. बढ़ते कदम :– इस पुस्तक में डॉ.भारिल्ल के व्यक्तित्व व कृतित्व को पिरोया गया है।

32. विचार के पत्र : विकार के नाम :– इस कृति में आज के युवाओं की समस्यायें विकार की ओर से लिखे गए पत्रों के माध्यम से और उनका समुचित समाधान विचार की ओर से लिखे गए पत्रों के माध्यम से किया गया है।

33. तलाशः सुख की :– इसमें डायरी शैली में 74 वर्षीय वृद्धा के माध्यम से सुख क्या है? कहाँ है? आदि विषयों के स्पष्टीकरण के साथ सामाजिक

कुरीतियों का चित्रण करते हुए उनका समुचित समाधान भी दिया गया है। यह पुस्तक जैन-अजैन सभी के पढ़ने योग्य है।

34. मुक्ति की युक्ति :- प्रस्तुत पुस्तक में छोटे-छोटे पद्यों में महत्वपूर्ण और जीवनोपयोगी विषय समाहित किए गए हैं। इस कृति में आत्मा का शरीर व मिथ्यात्व के साथ का संबंध और स्वरूप अतिरोचक तरीके से बताया गया है।

35. सत्ता का सुख : इस पुस्तक में छह द्रव्यों को पात्र बनाकर उनका स्वरूप आज के राजनीतिक परिदृश्य में बड़े ही रोचक रूप से प्रस्तुत किया गया है। साथ ही इसमें कैकई की त्याग भावना और राजुल की मनः स्थिति दर्शाते हुए नया चिंतन प्रस्तुत किया है।

36. जैन दर्शनसार :- प्रस्तुत कृति में जैन दर्शन का सार सरल व संक्षेप में दिया गया है। जैन सिद्धांतों से अनभिज्ञ व्यक्ति भी आसानी से इस कृति के माध्यम से जैनदर्शन के रहस्य को समझ सकता है।

37. आ. अमृतचन्द्र और उनका पुरुषार्थसिद्धुपाय : इसमें आ. अमृतचन्द्र के जीवन एवं कृतियों का संक्षिप्त परिचय तथा पुरुषार्थसिद्धुपाय ग्रंथ का विभिन्न दृष्टियों से शोधपरक समालोचनात्मक अध्ययन किया गया है।

38. आ. कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार :- इसमें उनके ग्रन्थों की समस्त विषयवस्तु एवं दार्शनिक विचारों को सरल-सुबोध भाषा में संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें आ. कुन्दकुन्द और उनके टीकाकारों के जीवन की अधिकतम जानकारी सप्रमाण प्रस्तुत की गई है। टीकाकारों की टीकाओं का समालोचनात्मक अनुशीलन इस शोध प्रबंध की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रंथो को पढ़ने के पूर्व इस कृति के अध्ययन करने से कुन्दकुन्द के हार्द को समझने में विशेष सरलता रहेगी।

39. प्रमाणज्ञान :- इस पुस्तक में प्रमाण के स्वरूप भेद-प्रभेदों को छोटे-छोटे पद्यों और प्रश्नोत्तरों के रूप में प्रस्तुत कर न्याय जैसे दुरूह विषयों को जनसामान्य से परिचित कराया गया है। इसमें न्याय संबंधित सामान्य जानकारी दी गई है।

40. प्रामाणज्ञान : सम्यग्ज्ञान :- परीक्षामुख के आधार पर लिखी गई इस पुस्तक में न्याय संबंधित विशेष जानकारी विस्तार से दी गई है।

41. परीक्षामुख प्रवेशिका टीका :- यह पुस्तक सरल, सहज-बोधगम्य भाषा में लिखी गई परीक्षामुख की टीका है।

42. उपादान–निमित्त दोहा टीका :–इस पुस्तक में पण्डित बनारसीदासजी और भैया भगवतीदास जी द्वारा लिखे गये उपादान–निमित्त के दोहों पर टीका की गई है। साथ ही साथ इसमें निमित्त–उपादान की भेद–प्रभेद सहित सामान्य जानकारी दी गई है।

43. अनुपम खोज :– इस पुस्तक में अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंगी संबंधित समस्त जानकारी दी गई है। इसमें गलत सप्तभंगी एवं सही सप्तभंगी को उदाहरण सहित विस्तार से बताया गया है।

44. नयचक्र गाईड :– डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल द्वारा रचित 'परमभावप्रकाशक नयचक्र' के आधार पर लिखी गई यह पुस्तक अध्यात्म के नयों के स्वरूप को बताने वाली गाईड है।

45. आगम के नय :– डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल द्वारा रचित 'परमभावप्रकाशक नयचक्र' के आधार पर लिखी गई यह पुस्तक आगम के नयों के स्वरूप को बताने वाली गाईड है।

46. अर्चना गाईड :– डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल द्वारा रचित पूजाओं का अर्थ और भावार्थ इस पुस्तक में दिया गया है।

47. बालबोध प्रशिक्षण गाईड :– इस पुस्तक में बालबोध पाठमाला 1,2,3 के सभी पाठों से संबंधित जानकारी विस्तार से दी गई है।

48. प्रवेशिका प्रशिक्षण गाईड :– इस पुस्तक में वीतराग–विज्ञान पाठमाला 1,2,3 के सभी पाठों से संबंधित जानकारी विस्तार से दी गई है।

49. आत्मानुभूति कैसे? – इस पुस्तक में आत्मानुभूति की प्रक्रिया पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

50. आनन्द एक : रूप अनेक :– इस पुस्तक में आनन्द के विभिन्न रूपों का विस्तार से वर्णन है।

51. बढ़ते कदम : परमानन्द की ओर :– इस पुस्तक में परमानन्द की प्राप्ति के उपायों पर सूक्ष्मता से सरल, सहज–बोधगम्य भाषा में प्रकाश डाला गया है।

52. मिनी समयसार :– इस पुस्तक में आचार्य कुन्दकुन्द रचित समयसार की 1 से 18 तक की गाथाओं पर सरलतम टीका की गई है।

53–54. मीडियम समयसार भाग 1–2 :– यह पुस्तकें समयसार की क्रमशः 19 से 38 और 39 से 68 तक की गाथाओं पर लिखी गई सरलतम टीका हैं।

55–56. समयसार प्रश्नोत्तर माला भाग 1–2 :– इन पुस्तकों में डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के द्वारा लिखित समयसार अनुशीलन के आधार पर प्रश्नोत्तर दिये गये हैं।

जैन बाल साहित्य के उत्कृष्ट लेखन हेतु अखिल भारतवर्षीय दि. जैन विद्वत्परिषद् द्वारा **विद्वत्रत्न की उपाधि** से सम्मानित विद्वत्रत्न डॉ. शुद्धात्मप्रभा टड़ैया को 8 मार्च 2008 को महिला दिवस के अवसर पर मुम्बई की महापौर के शुभ कर कमलों से भी सम्मानित किया गया है। आपका जन्म अशोकनगर (म.प्र.) में 30 जनवरी 1958 को हुआ।

आपके द्वारा एम.ए. में लघुशोध निबंध के रूप में लिखी गई पुस्तक मात्र 19 वर्ष की अवस्था (27-11-1977) में प्रकाशित हो गई।

आधुनिक बाल जैन साहित्य की प्रणेता आपने **जैन सिद्धान्तों को सर्वप्रथम पहेलियों के रूप में** प्रस्तुत कर जैन बाल साहित्य को नई दिशा प्रदान की है। खेल-खेल में **गेम्स के माध्यम** से बच्चों में जैन सिद्धान्तों का बीजारोपण करने का प्रयास सर्वप्रथम आपके द्वारा किया गया।

आपके द्वारा लिखी गई बाल पुस्तकों में पहेलियों, कविताओं और प्रश्नोत्तर शैली में लिखे गए पाठों के माध्यम से तत्त्वज्ञान एवं भेदज्ञान कराया गया है।

आपने विभिन्न आयुवर्ग को ध्यान में रखकर भिन्न-भिन्न शैलियों में अध्यात्म को जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास किया है। गद्य-शैली, पद्य-शैली, चम्पू (गद्य-पद्य मिश्रित) शैली, पत्रशैली, डायरीशैली, छोटे-छोटे मंचन योग्य नाटक, बड़े-बड़े नाटक आदि साहित्य की विभिन्न विधाओं के दर्शन आपकी कृतियों में होते हैं।

आपके निर्देशन में सर्वप्रथम युवाओं के लिए देश भर में **art of happy living** नाम से सेमीनार कम वर्कशॉप के अनेकों आयोजन भी किए जाते हैं।

आपके निर्देशन में 'परमागम ऑनर्स' शास्त्री कोर्स का आरम्भ जुलाई 2016 से हो गया है। इस कोर्स में जैन-अध्यात्म का व्यवस्थित, नियमित अध्ययन और जैन सिद्धान्तों को जीवन में उतारने का तरीका गुरुओं के मार्गदर्शन में सिखाया जाता है। इसमें नई परीक्षा प्रणाली अपनाते हुए Open Book Exam होता है। जिनागम के अध्ययन-अध्यापन के लिए आधुनिक इन्फोर्मेशन टेक्नोलॉजी का उपयोग करते हुए Internet या Teleconfrence call के द्वारा कक्षायें ली जाती हैं। इसका संचालन श्रीमती स्वानुभूति द्वारा किया जाता है।

वर्तमान में आप पी.एच.डी. की गाईड भी हैं। किसी भी विषय से पी.जी. किए हुए व्यक्ति यदि जैनदर्शन में पी.एच.डी. करना चाहते हैं तो आपके निर्देशन में कर सकते हैं।

सम्प्रति आप अपने परिवार के साथ मुम्बई में रहती हैं। जहाँ आपके पति श्री अविनाशकुमार टड़ैया का हीरे-जवाहरात एवं डायमंड ज्वैलरी का व्यवसाय है।

आपके द्वारा अभी तक छोटी-बड़ी 56 पुस्तकें लिखी गईं हैं।